श्रीराधाकृष्णाभ्यां नमः

श्रीकृष्ण-चरितामृत

(प्रथम खण्ड)

रचयिता—

तारादत्त मिश्र 'अनङ्ग'

प्रकाशक— श्रीराधामाधव सेवा संस्थान
पो० गीतावाटिका (गोरखपुर)

श्रीकृष्ण-संवत् ५१९७, प्रथम संस्करण १,०००

न्योछावर

दो रुपये पचीस पैसे

पता— श्रीराधामाधव सेवा संस्थान
पो० गीतावाटिका (गोरखपुर)

नम्र निवेदन

'श्रीकृष्ण-चरितामृत' नामक यह छोटा-सा सुन्दर काव्य भक्तहृदय श्रीतारादत्तजी मिश्र 'अनङ्ग'के द्वारा लिखा गया है। इसमें काव्योचित सभी गुणोंकी छटा देखनेको मिलती है। इसके वर्तमान प्रथम खण्डमें लीला-पुरुषोत्तम अखिलभुवनमोहन परात्पर श्रीकृष्णकी मधुरातिमधुर वाल, पौगण्ड एवं केशोर लीलाओंका वड़ा ही सरस एवं सजीव चित्रण किया गया है। काव्यको एक वार पढ़ना आरम्भ करनेपर उसे छोड़नेको मन नहीं करता। अन्तमें श्रीगोपीजनोंके दिव्यातिदिव्य कामगन्धलेश-शून्य प्रेमका, विशेषकर श्रीराधा-कृष्णके पारस्परिक परमत्यागमय विशुद्ध प्रेमका रसिकजनानुमोदित वर्णन किया गया है। सबसे वड़ी बात यह है कि कई वर्षोंसे श्रीतारादत्तजीके नेत्रोंकी ज्योति चली गयी है, किंतु एक संतके मना करनेसे उन्होंने अपने नेत्रोंकी चिकित्सा नहीं करवायी। इस परवशताकी स्थितिमें उन्होंने यह काव्य वोल-बोलकर लिखाया है। ऐसा लगता है कि मानो इनकी मन-बुद्धिको अधिष्ठितकर किसीने इनसे यह काव्य लिखवाया हो। ऐसी दशामें भाषासम्बन्धी स्खलन भी कहीं-कहीं दृष्टिगोचर हो सकते हैं। विज्ञजन कृपया ऐसे स्थलोंको सुधारकर पढ़ेंगे। प्रूफ देखनेमें भी सम्भव है कहीं कुछ भूलें प्रमादवश रह गयी हों। इसके लिये भी हम कृपालु पाठकोंसे करबद्ध क्षमा-याचना करते हैं। रसार्णव श्रीकृष्णकी रसमयी लीलाओंका अनुशीलन रसिकजनोंके

लिये सबसे अधिक लोभनीय वस्तु है। प्रस्तुत खण्डकाव्यमें भी रसकी जो पावन सरिता बहायी गयी है, उसमें अवगाहन कर रसिकजन यत्किंचित् आह्लादका अनुभव करेंगे--इसी आशासे इस काव्यका यह प्रथम खण्ड श्रीकृष्णानुरागी पाठकोंकी सेवामें प्रस्तुत किया जाता है।

विनीत—

गीतावाटिका, गोरखपुर चिम्मनलाल गोस्वामी

माघ शु० १२, श्रीकृष्ण-संवत् ५१९७ सम्पादक 'कल्याण'
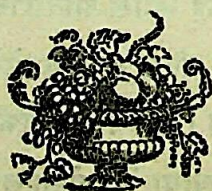
॥ श्रीराधाकृष्णाभ्यां नमः ॥

अपने प्रियतम नटवरके प्रति

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्॥
(गीता ११।३३)

मेरे प्यारे कन्हैया! कुरुक्षेत्रके रणाङ्गणमें उस दिन तुमने ही तो अपने विराट् विश्वरूपका दर्शन कराके अर्जुनको उपर्युक्त आदेश देते हुए उसे निमित्त बननेको कहा था? सुना है, महाभारत युद्धके आरम्भ होनेके ठीक पहले तुमने अर्जुनके प्रति अपने दिव्य उपदेशोंके द्वारा विश्वमात्रको अपना शाश्वत अमर संदेश दिया है। यद्यपि तुमने 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' कहकर मानवको कर्म करनेका अधिकार दे रखा है, फिर भी मैं कुछ ऐसा मानने लग गया हूँ कि इस जगत्में कोई भी व्यक्ति यदि कोई भी शुभ कार्य करनेमें प्रवृत्त होता है तो उसमें निश्चय ही तुम्हारी प्रेरणा होती है और तुम यन्त्रीकी तरह उस यन्त्रसे कर्म करवा देते हो।

अस्तु, मेरे प्यारे यन्त्री! उस दिन ४ मई १९५७को कलकत्तेमें तुमने ही तो मेरे परमपूज्य भैया पण्डित श्रीदेवदत्तजी मिश्रके हृदयमें स्थित होकर मुझसे कहा था, 'तारादत्त, तुम भी भगवान्के गुणानुवादमें कुछ लिखो।' उन दिनों वे स्वयं भी तुम्हारे ही चरित्रके सम्बन्धमें कुछ लिख रहे थे। उनका आदेश सुनकर पहले तो कुछ समझमें नहीं आया कि क्या लिखूँ, परंतु तुरंत ही 'मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च' अपनी इस उक्तिके अनुसार तुमने ही तो मेरे मस्तिष्कमें अकस्मात् एक परम सुनहली स्मृति पैदा कर दी थी। कुछ समय पूर्व तुम्हारी माखनचोरी, चीर-हरण, रासलीला आदि दिव्य लीलाओंके सम्बन्धमें 'कल्याण'-सम्पादक भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारद्वारा लिखित लेखोंको पढ़नेका सुअवसर तुमने मुझे दिया था। हठात् मेरे मनमें यह विचार उत्पन्न हुआ कि पूज्य भैयाके

आदेशानुसार मैं तुम्हारी इन्हीं लीलाओंका गान कविताके रूपमें करूँ। फिर यह विचार हुआ कि यदि आरम्भसे ही तुम्हारे चरित्रों-का वर्णन करूँ तो उसी सिलसिलेमें तुम्हारी इन दिव्य लीलाओंका वर्णन भी प्रसङ्गानुसार हो ही जायगा। हाँ, यहाँ मैं तुमसे एक बात पूछना चाहता हूँ मेरी धारणा है कि इस आधुनिक युगमें अपनी इन दिव्य लीला के रहस्योद्घाटनकी जैसी क्षमता तुमने भाईजी श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दारको दी, वैसो किसीको भी नहीं। बात भी ठीक ही है, नीति भी ऐसी ही है। लोग अपना सबसे बढ़कर प्रिय कार्य अपने सर्वोच्च प्रियपात्रके द्वारा ही करवाते हैं। तुमसे बढ़कर नीतिज्ञ और दूसरा हो ही कौन सकता है। इस युग-में तुमने यह काम उन्हींसे लिया। अतः वे वन्दनीय हैं, प्रातःस्मरणीय हैं। हाँ, तो कैसा आकर्षण है उनके लेखोंमें! कैसी मधुरिमा है उनकी शैलीमें!! मुझे प्रतीत होता है, राधारानी एवं सभी गोपियों-के साथ उनके हृदय और उनकी वाणीमें प्रविष्ट होकर तुमने ही अपनी गुण-गाथाएँ उनसे कहला दी हैं अथवा उनकी उँगलियोंको पकड़कर अपना चरित्र-चित्रण करवा दिया है। अब तुम ही बताओ, मेरे प्यारे पारखी! मेरी धारणा ठीक है न?

तो हे मेरे प्यारे प्रवर्त्तक! तुमने उसी दिन आरम्भ करवा ही दी मेरेद्वारा अपने चरित्रकी रचना छन्दोंमें। मैं नैसर्गिक कवि तो हूँ नहीं। आरम्भ किया तुक मिलाना। ऐसे जोड़ा, वैसे जोड़ा, जोड़ते-जोड़ते जोड़ दिया एक छन्द। किसी दिन दो, किसी दिन तीन, किसी दिन पाँच। फिर बहुत दिनोंतक चुप। वस्तुतः तुम तो मुझे मार-बाँधकर (अपनी अहैतुकी कृपासे बलपूर्वक सन्मार्गमें प्रतिष्ठित कर) योगी बना रहे थे। क्यों, यह तुम जानो। मैं कैसा योगी बन सका, यह भी तुमसे छिपा नहीं है। परंतु मैं कुम्भकर्णकी तरह दो दिन जगकर, फिर छः महीने सोकर, फिर जगकर लिखता गया – नहीं-नहीं, तुम मुझसे लिखवाते गये। सच बात तो यह है कि मैं सोता था आलस्य और प्रमादवश, परंतु जगकर लिखता था तुम्हारी कृपामयी प्रेरणासे। इसी क्रमसे जो कुछ तुमने मेरेद्वारा लिखवा दिया, वह तुम्हारे ही स्वरूप और तुम्हारे ही प्रिय पाठकोंके सम्मुख है।

यहाँ एक बात कह देता हूँ, मेरे प्यारे अन्तर्यामी! तुम तो जानते ही हो कि मैं मनमें भीतर-ही-भीतर भयभीत हो रहा था, यह सोचकर कि मैं चोर हूँ। किसीकी वस्तुको उसकी अनुमतिके बिना ले लेना

ही तो चोरी है और उसका रूप-रंग बदलकर अपनी कह देना तो और भी भारी भूल है। परंतु मेरी इस भावनाके मूलमें ही भूल थी—यह रहस्य पीछे खुला। यह चोरी तो कुछ वैसी ही थी, जैसी तुम्हारी माखन-चोरी। गोपियाँ तो चाहती ही थीं कि तुम उनका माखन चुराकर खाओ और उन्हें प्रेमानन्द प्रदान करो। मैं अपनेको चोर समझता हुआ ही चोरी करता गया। मैं भाईजी श्रीहनुमानप्रसाद-जी पोद्दारके लेखोंसे गोपी-प्रेमके दिव्यातिदिव्य, मधुरातिमधुर एवं पवित्रातिपवित्र रहस्यपूर्ण भावोंकी चोरी करता हुआ सशङ्कित चित्तसे आगे बढ़ता गया अपनी कविताकी रचनाके कार्यमें। पर 'अपनेको चोर समझकर सशङ्कित होना मेरी भूल है' यह बात मेरी समझमें तब आयी, जब मैंने भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारद्वारा रचित मधुरभावविषयक निबन्धके संकलन श्रीराधामाधव-चिन्तन' नामक ग्रन्थके आरम्भमें 'कल्याण'के सह-सम्पादक परमपूज्य श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी-लिखित 'नम्र निवेदन' शीर्षक निबन्ध-में निम्नलिखित पंक्तियाँ देखीं—

'साहित्यके अध्ययन करनेवालोंकी भाँति ही, साहित्य-प्रणेताओं-के समक्ष भी श्रीराधाकृष्णके स्वरूप एवं उनकी लीलाओंके सम्बन्ध-में एक सैद्धान्तिक मापदण्ड न रहनेके कारण सूरदास आदि कुछ भक्त-कवियोंको छोड़कर शेष कवि, जिन्होंने श्रीराधामाधवको अपने काव्य-का विषय बनाया, बहुत कुछ पथ भूल गये हैं। अतः श्रीराधाकृष्ण-विषयक साहित्यके प्रणेता कवि एवं लेखकोंसे मेरी विनम्र प्रार्थना है कि वे इस ग्रन्थमें प्रस्तुत किये गये श्रीराधाकृष्णके पवित्रतम स्वरूप एवं सम्बन्धको अपने सामने रखकर साहित्यका सृजन करेंगे तो ऐसा सात्विक साहित्य प्रकट होगा, जो भक्ति-क्षेत्रकी तो अमूल्य निधि होगी ही, समाजके पतनोन्मुख नैतिक स्तरको भी उन्नत करनेमें सक्षम होगा।' तथ्यपूर्ण एवं सारगर्भित उपर्युक्त पंक्तियोंको पढ़नेका सुअवसर देकर तुमने मेरे हृदयमें एक नया उत्साह पैदा करवा दिया और मैंने संशय-रहित होकर समझ लिया या यों कहो, मेरे प्यारे संशयछेत्ता! तुमने मुझे समझा दिया कि मेरा यह प्रयास तुम्हारे और तुम्हारे भक्तोंकी इच्छाके अनुकूल है और तुमलोगोंका ही प्रिय कार्य है।

मेरे प्यारे प्रेरक! तुमने ही तो अपने इस चरित्रके निर्माणमें मुझे निमित्त बनाया। अर्जुनको तुमने कहा था, 'जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व

राज्यं समृद्धम्।' अर्जुनको अपने शत्रुओंपर विजय प्राप्त करनी थी और उसके बाद करना था राज्य-समृद्धिका उपभोग। परंतु वस्तुतः अपने अन्तर्हृदयमें स्थित काम-क्रोध, मोह-लोभ, मद-मात्सर्य—इन छः अत्यन्त दुर्जेय, भीषण शत्रुओंपर विजय प्राप्त करके तुम्हारी प्राप्तिरूप समृद्धिका उपभोग करना ही तो मानव-जीवनका सर्वोत्तम आदर्श एवं सर्वोच्च ध्येय है। हाँ, शत्रुओंके साथ युद्ध करनेके लिये तो अस्त्र-शस्त्रोंकी आवश्यकता है और आवश्यकता है युद्ध-कला में निपुणताकी। अब हे मेरे प्यारे, उदारचेता, महादानी, जगद्गुरु कृष्ण! तुम बता दो, अब कौन दे इन अस्त्र-शस्त्रोंको और कौन सिखाये युद्ध-कलाकी निपुणता? मैं इस प्रश्नको तुम्हारे सामने रखकर इसका उत्तर सुननेके लिये चुप हो जाता हूँ। पर जटिल-से-जटिल भी कौन ऐसा प्रश्न है, जिसका उत्तर तुम तत्काल न दे सको? तुम तो अपने मूक हास्यके साथ मूक भाषामें उत्तर दे रहे हो, जिसे मेरा मूक हृदय सुन रहा है। तुम तो यही कह रहे हो, 'उपर्युक्त शत्रुओंके नाशके लिये मेरे चरित्रके कथन, श्रवण और मनन तथा मेरे गुण-गानसे बढ़कर दूसरा न तो कोई अस्त्र-शस्त्र है और न युद्ध-कलामें निपुणता देनेवाली वस्तु ही।'

ओ मेरे प्यारे चतुर खिलाड़ी! अब समझमें आया। वस्तुतः तुम्हारी मेरे ऊपर बड़ी कृपा है। तुम चाहते हो कि कामादि शत्रुओं-पर विजय प्राप्त कर मैं तुम्हारे परमधामकी समृद्धिका उपभोग करनेकी योग्यता प्राप्त कर सकूँ। यदि यह बात न होती तो तुम मुझे निमित्त बनाकर यह अपना चरित न लिखवाते और अपना गुणानुवाद न करवाते।

क्षमा और दयाके महोदधि मेरे प्यारे पतित-पावन नटवर! यह बात तो यथार्थ है और पूज्य श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामीके निबन्ध-से उद्धृत उपर्युक्त पंक्तियोंसे भी यह स्पष्ट है कि सूरदास आदि कुछ भक्तकवियोंको छोड़कर तुम्हें तथा तुम्हारी राधा और गोपियोंको अपने-अपने काव्यका विषय बनानेवाले अधिकांश कवि पथ भूल गये हैं। जिन लोगोंने बिना समझे-बूझे तुमलोगोंका चरित्र-चित्रण मोहग्रस्त सांसारिक व्यक्तियोंकी भाँति किया है, वे वस्तुतः दया और क्षमाके पात्र हैं: अतः उनका अपराध क्षमा कर दो। पर विद्वान् समझे जानेवाले कुछ पाश्चात्य लेखक तो इससे भी बहुत आगे बढ़ गये हैं और तुम्हारी रासलीलाको 'Ball dance' तक कह

देनेका दुस्साहस करते हैं। मुझे तो तरस आती है उनकी बुद्धिपर। जरासंध-शिशुपाल आदि अपने विरोधियोंकी भाँति ही तुम उनकी बुद्धिको निर्मल कर उन्हें अपनी शरणमें ले लो, यह मेरी तुमसे सतत प्रार्थना है।

सदा अपने भक्तोंसे पराजित होनेवाले मेरे प्यारे संकर्षणानुज! सुना है, तुम अपने बड़े भैया श्रीबलभद्रजीके प्रति अत्यधिक श्रद्धावान् थे। तुम्हारा यह भाव तुम्हारी भगवत्ताके अनुरूप ही था। यह भी कहा जाता है और तुम भी बार-बार स्वीकार करते हो कि तुम्हारा भक्त तुमसे बढ़कर होता है। यह भी सत्य ही है कि अग्रज-का स्थान अनुजसे ऊँचा है। तो भत, वर्तमान और भविष्यत्का लेखा-जोखा रखनेवाले सर्वज्ञ और महान् तार्किक एवं गणितज्ञ मेरे प्यारे कृष्ण! मैं तुम्हारे सामने एक तर्कपूर्ण विषयके निर्णयका प्रश्न रखता हूँ। एक है भक्त, परमप्रेमी भक्त, भक्ताग्रणी अनुज; दूसरा है संसारासक्त, सर्वथा सभी सद्गुणोंसे हीन, एक तुच्छातितुच्छ प्राणी, किंतु है वह अग्रज, उसी परमप्रेमी भक्तका अग्रज। अब, हे मेरे प्यारे कन्हैया! अपने गणितके ज्ञानसे पूर्ण तर्कों और युक्तियोंसे उस अग्रजके क्षुद्र व्यक्तित्वका मूल्याङ्कन कर दो।

हाँ, जब मैंने दस सर्गाञ्जलियोंसे भरकर तुम्हारे चरितामृतका यह काव्यात्मक प्याला तुम्हारे सामने रखा और इसे स्वीकार कर, स्वयं सुधाको पीकर, गोपियोंको देकर, फिर मुझे देकर और मेरे साथ आकर खेलनेको कहा, तब तुम चुपचाप खड़े रहे। इसपर मुझे एक युक्ति सूझ पड़ी? मैंने तत्क्षण यह भार अपने अनुजपर दे दिया और तुम्हें यह चुनौती दे दी, 'भागोगे कैसे नटवर?' यह भार देकर मैं तो निश्चिन्त होकर बैठ गया था। मैं सच कहता हूँ, तुम्हारे द्वारा इस प्यालेकी स्वीकृतिके सम्बन्धमें मुझे तनिक भी संदेह नहीं था; क्योंकि तुम्हारे ही द्वारा दी हुई अमित शक्तिसे सम्पन्न तुम्हारे परम आत्मीय, निजानन्दस्वरूप एक अविरल संतका पूर्ण सहारा जो मुझे मिल गया था। बादमें मैं क्या कहूँ, कन्हैया! तुम्हें त्रिलोकीमें, विश्व-ब्रह्माण्डमें अथवा उससे भी परे सर्वश्रेष्ठ जादूगर कहूँ या बहुरूपिया कहूँ? वस्तुतः वेदोंद्वारा भी 'नेति-नेति' कहकर सर्वथा अलक्षित, इन्द्रियों, मन और बुद्धिसे परे तुम्हारे सम्बन्धमें कुछ भी कहनेमें मैं सर्वथा असमर्थ हूँ। हाँ, कृपा करके, अत्यन्त ही कृपा करके तुमने एक दिन यह रहस्य धीरेसे मेरे सामने खोल दिया कि

इस काव्यको लिखनेकी प्रेरणा देकर, नहीं-नहीं, स्वयं मेरेद्वारा लिखवाकर तुम्हारी ह्लादिनी हमारी राधाने ही तुम्हारे इस चरित्रको तुम्हारे पासतक पहुँचानेका भार स्वयं ले लिया है। वस्तुतः, 'एकोऽहं बहु स्याम्' कहनेवाले तुम्हारे ही तो ये सब खेल हैं। भगवान्-भक्त, आराध्य-आराधक, साध्य-साधक, भोक्ता-भोग्य, प्रेमास्पद-प्रेमी आदिके रूपोंमें एकमात्र तुम-ही-तुम हो। इसीलिये तो मैं तुम्हें सर्व-श्रेष्ठ जादूगर और बहुरूपिया कह रहा हूँ।

सदा निजजनोंका आभार माननेवाले मेरे प्रियतम ! लो तुम्हारे ही स्वभावका अनुसरण करता हुआ और तुम्हारी ही इच्छा और रुचिके अनुसार मैं भी उन सभी महानुभावोंके प्रति अपना आभार प्रकट करता हूँ, जिनके नाम ऊपर अङ्कित हैं और जिनकी प्रेरणा और सहायतासे ही मैं इस काव्यके लिखने और प्रकाशित करवानेमें समर्थ हो सका हूँ। इसके अतिरिक्त गीताप्रेस, गोरखपुरके श्रीशिवनाथजी दुबे, श्रीसुदर्शनसिंहजी 'चक्र', श्रीमाधवशरणजी और श्रीदुलीचंदजी दुजारी प्रभृति महानुभावोंका भी मैं आभारी हूँ, जिनकी सहानुभूतिपूर्ण चेष्टा, सहायता और प्रयाससे ही यह "श्रीकृष्ण-चरितामृत" प्रथम खण्ड पाठकोंके कर-कमलोंमें उपस्थित है। यों तो मेरे इस कार्यमें मेरे कई छात्रोंने मुझे सहायता पहुँचायी है; परंतु उनमें मेरे परमप्रिय शिष्य एवं सेवक मङ्गलेश्वरप्रसादका स्थान सर्वप्रथम है। मेरे प्यारे जगन्नाथ ! तुम मुझ-सरीखे तुच्छ सेवकको तथा उसके इस परमप्रिय शिष्य एवं सेवकको भी अपनी सतत सेवाका अवसर प्रदान करो—यही मेरी हार्दिक अभिलाषा है।

भक्त तुम्हारे जगमें जैसा नाता तुमसे रखते,
तदनुसार अपनाकर उनको तुम कृतार्थ हो करते।
'सबसे ऊँची प्रेम सगाई'—इसी भावसे भर दो—
उरको, मेरे रोम-रोमको, नाथ ! प्रेममय कर दो।

१८-१०-१९६५ }

तुम्हारा अपना ही,
तारादत्त

॥ श्रीराधाकृष्णाभ्यां नमः ॥

श्रीकृष्णार्पणमस्तु

त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये।
गृहाण सुमुखो भूत्वा प्रसीद परमेश्वर ॥

गोपी-माधव-लीलाकी रसमय रहस्यमय धारा।
बहती दुर्गम गिरिमें थी, वह एक भगीरथ[1] द्वारा ॥ १ ॥
प्रकटित भूतलमें सरिता बनकर सुधाम्बु जब लायी।
मैंने देखा चुपकेसे, उसमें अञ्जलि फैलायी ॥ २ ॥
दस सर्गाञ्जलियोंमें भर हरि-चरितामृतका प्याला।
सम्मुख रखता हूँ, तुम क्यों हँस रहे नन्दके लाला! ॥ ३ ॥
मैं चोर और छलिया हूँ, लोभी हूँ, किंतु पुजारी।
ये मेरे और तुम्हारे गुण मिलते हैं अघहारी ॥ ४ ॥
माखन-चोरी करते हो, बलिके छलिया कहलाते।
हो भक्त-प्रेमके लोभी, बस, इसी साम्यके नाते ॥ ५ ॥
यह सुधा तुम्हारी तुमको अर्पण करता हूँ, ले लो।
पी स्वयं गोपियोंको दो, दो मुझे, साथ आ खेलो ॥ ६ ॥
मुस्कानभरी चितवन है, प्रियतम! पर मौन खड़े हो।
लोगे या नहीं? नहीं तुम मुखसे कुछ बोल रहे हो ॥ ७ ॥
माताके पुण्य उदरसे मेरे पीछे जो आया।
जीवनके प्रथम प्रहरमें जिसको तुमने फुसलाया ॥ ८ ॥
मैं उसको कह देता हूँ, वह तुमको भी फुसलाकर।
प्याला मुखमें दे देगा, भागोगे कैसे नटवर! ॥ ९ ॥
निश्चिन्त हुआ हूँ मैं अब, यह भार अनुजपर देकर।
कैसे राजी कर लेगा, जाने वह, जाने नटवर ॥ १० ॥
इस काव्यात्मक प्यालेके तो बाह्य रूपमें कुछ भी।
सौन्दर्य नहीं है निश्चय, पर सुधा भरी है फिर भी ॥ ११ ॥

---

१. यहाँ 'भगीरथ' शब्दद्वारा 'कल्याण'—सम्पादक श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारका संकेत है।

टेढ़े-मेढ़े प्यालेमें यह तरल सुधा भी आकर।
आकृतिमें टेढ़ी-मेढ़ी, फिर भी है मीठी भीतर ॥ १२ ॥
पीछे मेरे हृत्तलमें है सत्यभाव यह आया।
गोलोकस्वामिनी राधाने ही यह भार उठाया ॥ १३ ॥
प्यालेमें भरी सुधाका कण एक-एक अति सुन्दर।
बन गया दिव्यतम राधाद्वारा अनुमोदित होकर ॥ १४ ॥
प्रियतमकी लीलाओंकी छवि नीलद्युति कण-कणसे।
थी निखर रही, राधाने देखा आँखोंसे, मनसे ॥ १५ ॥
सम्मुख देखा राधाने, हँसते आये जब नटवर।
बोली, "प्रियतम तुम लिखना इस छविको मेरे ऊपर ॥ १६ ॥
"मैंने इस चरित-रचयिताको निज जन स्वयं बनाया।
यह चरित तुम्हारा, प्रियतम ! है मैंने ही लिखवाया" ॥ १७ ॥
राधा अपनी इस वाणीमें स्वयं हुई प्रतिबिम्बित।
मैं यहाँ उसी वाणीको अविकल करता हूँ अङ्कित ॥ १८ ॥

सुन्दर इस निज चरित्र-छविको मेरे ऊपर लिखना प्रियतम।
लिखते-लिखते जब कर-पल्लव हो जाय अधिक चिकना प्रियतम ॥
लेना तुम पोंछ इसे अपने पीले दुकूलसे ही प्रियतम।
देखूँगी मैं उन चिह्नोंपर सहचरियोंका बिकना प्रियतम ॥ १ ॥
रजनीको जब विराम देने आयेगी उषा सखी प्रियतम।
आयेंगी तब वे भी निकुञ्ज-वातायनके समीप प्रियतम ॥
होगा फिर द्वार मुक्त, भीतर होंगी अपलक सब वे प्रियतम।
बाहर अलिसे मुखरित होगा फूलोंसे लदा नीप प्रियतम ॥ २ ॥
मङ्गल-नीराजन होनेपर बाहर लायेंगी वे प्रियतम।
हम दोनोंको, उनके पीछे-पीछे चलना होगा प्रियतम ॥
कालिन्दीकी उन लहरोंमें हमको नहलायेंगी प्रियतम।
उनकी रुचिके साँचेमें ही हमको ढलना होगा प्रियतम ॥ ३ ॥
अतएव अभीसे सच तुमको इङ्गित कर देती हूँ, प्रियतम।
मैं नित्य अहो ! रङ्गस्थलकी जो नित्य नटी ठहरी प्रियतम ॥
हो नहीं समयसे पहले ही झंकृत यह रङ्गमञ्च प्रियतम।
इसलिये बनी बैठी मैं हूँ गूँगी एवं बहरी, प्रियतम ॥ ४ ॥

—तारादत्त

विषय-सूची

प्रथम सर्ग

क्रम-संख्या

द्वितीय सर्ग

तृतीय सर्ग

चतुर्थ सर्ग

पञ्चम सर्ग

षष्ठ सर्ग

सप्तम सर्ग

अष्टम सर्ग

नवम सर्ग

दशम सर्ग

—:o:—

❀ राधा ❀

श्रीकृष्ण-चरितामृत

[प्रथम खण्ड]

प्रथम सर्ग

हे शारदे बुद्धिप्रदे, हे देवि वर वरदायिनी।
श्रीकृष्णके चरणाम्बुजोंमें भक्ति दो अनपायिनी॥
हेरम्ब हे, अवलम्ब दो इस कृष्ण-चिन्तन कर्ममें।
आये तुम्हारी शक्ति मेरी लेखनीके मर्ममें॥ १॥

हे आशुतोष, दयानिधे शंकर! यही है प्रार्थना।
जगदम्बिके हे अम्बिके! तुमसे यही अभ्यर्थना॥
लो थाम मेरी डोरको, डुबकी लगाना चाहता।
श्रीकृष्ण-लीला-सिन्धुके कुछ रत्न लाना चाहता॥ २॥

वन्दन तुम्हें, हे राधिके! हे आदिशक्ति, अकाम हे!
हे गोपियो! सब गोपजन हे! कृष्ण-लीला धाम हे!
हे नन्द! हे माता यशोदे! देवकी! वसुदेव हे!
श्रीकृष्णके गुणगानमें सबकी कृपा संतत रहे॥ ३॥

हे रुक्मिणी माता! सभी पटरानियाँ रसवानकी।
हे रानियाँ षोड़श सहस! संतान हे भगवानकी॥
उद्धव तथा अर्जुन, सुदामा! सब सखा गोपालके!
तुम दो सभी आशीष, यश गाऊँ यशोदा-लालके॥ ४॥

चाहूँ कृपा बलदेवकी, जो शेषके अवतार हैं।
जिनके फणोंपर राजता कणके सदृश संसार है॥
हे, हे सुभद्रे ! कृष्णकी प्यारी स्वसा, तुम ध्यान दो।
निज बन्धुके चरणाम्बुजोंमें भक्तिका वरदान दो॥ ५॥

सब देव, दानव, यक्ष-गण, गन्धर्व, किंनर, नाग हैं।
चौदह भुवनमें प्राप्त जितने जीव-जन्तु-विभाग हैं॥
सब कृष्णमय हैं, जान यह करता सभीकी वन्दना।
आशिष सभी दें, पूर्ण हो सत्वर हमारी साधना॥ ६॥

सौन्दर्य काव्योचित कहाँ, गुणहीन यह रचना शिथिल।
कोई चमत्कृति, व्यञ्जना इसमें कहीं सकती न मिल॥
फिर भी मधुर यह काव्य, रस घनश्यामका इसमें घना।
मोदक मधुर घीका सदा, टेढ़ा भले ही हो बना॥ ७॥

क्षमता नहीं है, काव्यकी उत्तम कला दिखला सकूँ।
इच्छा नहीं है, कविजनोंमें स्थान ऊँचा पा सकूँ॥
धुल जाय मनकी मैल हरि-चरिताम्बुसे, यह भावना।
अन्तःकरणकी शुद्धताकी, शान्तिकी है कामना॥ ८॥

हरि-नाम-लीला-पाठ कर सज्जन सुखी होंगे यथा।
हर्षित इसे लख दोषमय दुर्जन सभी होंगे तथा॥
गुण-अवगुणोंको कर ग्रहण मिलता जिन्हें विश्राम है।
उन सज्जनोंको, दुर्जनोंको बार-बार प्रणाम है॥ ९॥

करता कथा-आरम्भ हूँ अब कृष्णके अवतारकी।
निःशेष जगदाधारकी, आनन्द-पारावारकी॥
अज्ञानका, अघका तिमिर अब शीघ्र ही मिट जायगा।
हरिका[1] उदय चिद्-ज्योतिकी, शुभकी छटा छिटकायगा॥ १०॥

---

१. हरिका अर्थ सूर्य और श्रीकृष्ण दोनों विवक्षित हैं।

पावन धरापर धर्मका है ह्रास होता जब कभी।
अन्याय चारों ओर ही है सिर उठाता जब कभी॥
संतप्त संतोंका वचन सुन तब हृदयका, प्रानका।
कोमल हृदय जाता पिघल नवनीत-सा भगवानका॥११॥

कारक पुरुष आदिष्ट हरिसे कार्य छोटे साधने।
आते मिटाकर पापको, सद्धर्म-सीमा बाँधने॥
जब पाप सीमा पार करता है अमित विस्तार ले।
संस्थापना हरि धर्मकी करते तभी अवतार ले॥१२॥

चौथा चरण जब था विगत युग तीसरेका हो रहा।
दारुण दमन वह दानवोंका था नहीं जाता सहा॥
थी दानवी दावाग्निसे वह दग्ध मानवता-मही।
उस आसुरी सम्पत्तिसे दैवी दबी थी जा रही॥१३॥

उन कंस-से, चाणूर-जैसे पापियोंके नामको।
है जानता इतिहास ही उनके कलङ्कित कामको॥
सब संतजन, सम्भ्रान्त जन, थे कन्दरोंमें जा छिपे।
वे देश अपना छोड़कर परदेशमें थे जा छिपे॥१४॥

उस पापके गुरुभारसे दबकर धरा रोती हुई।
गोरूप धारणकर त्वरासे पास ब्रह्माके गई॥
थी अश्रुधारा अनवरत दोनों दृगोंसे बह रही।
वह श्रान्त थी, वह क्लान्त थी, दुःखाग्निमें थी जल रही॥१५॥

'हे सृष्टिके कर्त्ता विभो! अब ध्यान मुझपर दीजिये।
मर्मान्त पीड़ा भोगती, उद्धार मेरा कीजिये॥
जब शक्ति अपनी काम करती है नहीं, यह रीति है।
तब शक्तिशालीकी शरण जाना सनातन नीति है॥१६॥

'उन पर्वतों, नदियों, समुद्रोंका न मुझपर भार है ।
उन अण्डजोंका, पिण्डजोंका भार सब स्वीकार है ।।
उन उद्भिजोंका, स्वेदजोंका मैं सदा पालन करूँ ।
जो धर्मपर आरूढ़ हैं, उनको सदा धारण करूँ ।।१७।।

'सब प्राणियोंको, वस्तुओंको एक पल्लेपर रखो ।
फिर दूसरेपर एक पापीको बिठाकरके लखो ।।
वह दूसरा पल्ला दबेगा, बात अचरजकी कहूँ ।
बहु पापियोंके भारको फिर तुम कहो, कैसे सहूँ ?' ।।१८।।

परदुःखसे होना द्रवित, यह साधुओंका धर्म है ।
उपकार ही करना सभीका नित्य उनका कर्म है ।।
तब देवगणको साथ ले ब्रह्मा चले, पृथ्वी चली ।
अब क्षीरसागरके किनारे आ जुटी सब मण्डली ।।१९।।

निज शेष-शय्यापर पड़े भगवानकी कर आरती ।
सब पार्षदोंके मध्यमें, लक्ष्मी चरण थी चाँपती ।।
सब देवगणके साथमें ब्रह्मा खड़े, पृथ्वी खड़ी ।
गुञ्जित हुआ नभ, लग रही थी वेद-मन्त्रोंकी झड़ी ।।२०।।

ऊँचे स्वरोंमें सूक्तसे सब प्रार्थना करने लगे ।
हरि-पार्षदोंने जब सुना, होकर चकित कहने लगे ।।
आकाश-मण्डल भेदकर बादल प्रलयके बोलते ।
या क्षुब्ध पारावारमें जलजन्तु सब हैं डोलते ।।२१।।

उन पार्षदोंकी बात सुन हरिको हँसी कुछ आ गयी ।
तो भी महीका जान दुख, करुणा हृदयमें छा गयी ।।
निष्काम हरिका भी नियम है—भक्त जो जिस भावसे ।
भजता उन्हें, भगवान भी भजते उसे उस भावसे ।।२२।।

ऐसे दयामयके चरणमें मन लगे, निस्तार है।
मन ही हमारा है असुर, तमका बना आगार है॥
तमरूपमें दानव-असुर सबको सताते थे यथा।
कामादि मनकी वृत्तियाँ हमको सताती हैं तथा॥२३॥

उस क्षीर-सागर-मध्यसे पा प्रेरणा अवधानकी।
ध्यानस्थ ब्रह्मा हो गये, वाणी सुनी भगवानकी॥
'ब्रह्मन्! सुनो, मैं पूर्ण अवगत हूँ धराके भारसे।
वह शीघ्र ही अब मुक्त होगी कष्ट-कारागारसे॥२४॥

'प्यारी धराके वक्षपर वह पुण्य भारतवर्ष है।
चिर सृष्टिके आरम्भसे जिसका रहा उत्कर्ष है॥
यमुना-किनारे स्वर्ग-सी सुन्दर बसी मथुरा पुरी।
सौन्दर्यसे संकेत करती सृष्टिकी जो चातुरी॥२५॥

'अट्टालिकाएँ हैं जहाँ नभ चूमती मानो खड़ी।
वैदूर्य, मुक्ता और मरकत आदि मणियोंसे जड़ी॥
बहुरंग मानो संगमरमरकी पहनकर साड़ियाँ।
हैं वीथियाँ आगन्तुकोंकी कर रहीं अगवानियाँ॥२६॥

'उद्यान, उपवन आदि छविपर नयन रह जाते गड़े।
मानो लता पुष्पादि वस्त्राभूषणोंसे सज खड़े॥
शीतल, सुरभिसे युक्त मन्दानिल-व्यजन ले हाथमें।
हैं हर रही श्रम-बिन्दु पथिकोंको बिठाकर साथमें॥२७॥

'उन नील पट धारण किये वापी-तड़ागोंको लखो।
पटपर भ्रमर-गुंजरित नीरजके कसीदोंको लखो॥
नीलाञ्चलोंपर हंस-सारस आदि जलचर घूमते।
छिप अञ्चलोंमें खेलते क्रीडा-निलायन, भूमते॥२८॥

'ब्रह्मन् ! सुनो, वह विश्वकर्माकी कला बेजोड़ है ।
मथुरा पुरीसे लगा सकती कौन नगरी होड़ है ॥
उसके परम सौन्दर्यसे अमरावती भी मात है ।
पर आज मेरी प्रिय पुरीमें कंसका उत्पात है ॥२९॥

'उसकी स्वसा है देवकी वसुदेवकी पत्नी भली ।
जो शील, शुचि सौन्दर्यमें है पुष्पकी मानो कली ॥
वह आठवें निज गर्भमें पूर्णांश मेरा, जान लो ।
धारण करेगी शीघ्र ही—यह बात सच्ची मान लो ॥३०॥

'पर पूर्व मेरे देवकीके सातवें ही गर्भमें ।
आवेश होगा शेषका लीला ललित संदर्भमें ॥
प्राकट्य होनेसे प्रथम उस गर्भसे हट जायँगे ।
वसुदेव-पत्नी रोहिणीके पुत्र ये बन जायँगे ॥३१॥

'मम योगमाया भी, सुनो, जो मोहती संसार है ।
होगी प्रकट—यह जान लो, हरना मुझे भू-भार है ॥
वह नन्दरानीके उदरमें वासकर सुख पायगी ।
पश्चात मेरे जन्मके वह भी प्रकट हो जायगी ॥३२॥

'ये देवगण निज पत्नियोंके साथमें अवतार लें ।
भू-भार है हरना मुझे, साहाय्यका ये भार लें ॥
मैं मानवी लीला करूँगा प्रेममय भूलोकमें ।
लीला-सहायक ये बनें मेरे उसी आलोकमें' ॥३३॥

आदेश देकर यह उन्हें भगवान जब चुप हो गये ।
तब ध्यान ब्रह्माका खुला, कृतकार्य थे वे हो गये ॥
आनन्दके आँसू कपोलोंपर दृगोंसे वह चले ।
होती दशा उनकी यही, भगवत्-कृपा जिनपर फले ॥३४॥

आनन्दका उल्लास ब्रह्माके मुखोंपर छा गया।
धन खोजता जो रङ्क था, अनमोल पारस पा गया॥
अनमोल पारससे परे, उस वस्तुकी उपमा नहीं।
उस अद्वितीय अनादिकी मिलती भला, उपमा कहीं॥३५॥

है लौहको स्वर्णत्व देना शक्ति पारसकी भली।
पारस बनानेकी मगर क्षमता नहीं उसको मिली॥
भगवान-पारसकी अहो क्षमता अलौकिक जान लो।
निज भक्तको निज ही सदृश पारस बनाता, मान लो॥३६॥

'सुन लो, धरा! भगवानका अवतार अब हो जायगा।
पारस बनानेके लिये पारस स्वयं आ जायगा'॥
भगवानका संदेश ब्रह्माने सुना सबको दिया।
निज धाम आये देवगण, आदेश हृदयंगम किया॥३७॥

पाठक! हुई यह भूमिका भगवानके अवतारकी।
अब बात असुरोंकी सुनो दुर्वृत्ति-पापाचारकी॥
गीतोक्त इन सब आसुरी सम्पत्तियोंको जान लो।
जिनमें मिलें लक्षण, उन्हींको बस, असुर पहचान लो॥३८॥

सबसे प्रथम पाखण्ड ही सहजात जिनका धर्म हो।
अभिमान जिनकी अस्थि एवं दर्प मानो चर्म हो॥
जो क्रोधके अवतार हों, जिनका स्वभाव कठोर हो।
बस, मान लो उनको असुर, अज्ञान जिनका घोर हो॥३९॥

दुष्कर्मसे कैसे बचें, कैसे लगें सत्कर्ममें।
यह ज्ञान ही जिनमें नहीं, विश्वास क्यों हो धर्ममें॥
शुचिता न हो जिनमें कभी, आचार जिनका नष्ट हो।
जो सत्यसे अति दूर हों, व्यवहार जिनका भ्रष्ट हो॥४०॥

मिथ्या अखिल संसार है, इसकी प्रतिष्ठा है नहीं।
ईश्वर निरी है कल्पना, उसकी भला, सत्ता कहीं ?
नर और नारी सङ्गसे पैदा हुआ संसार है।
बस, कामका व्यापार ही इस सृष्टिका आधार है ।।४१।।

इन दुर्विचारोंसे सदा मस्तिष्क जिनका हो भरा।
अत्यल्प जिनकी बुद्धि हो, सद्भाव जिनका हो मरा ।।
अत्युग्र जिनके कर्म हों, जगका करें अपकार जो।
संसारके क्षयके लिये हैं क्रूरता साकार जो ।।४२।।

दुष्पूर बहु विधि कामना जर्जरित जिनका हो हृदय।
मदमत्त जिनके चित्तमें अपवित्र भावोंका उदय ।।
होता सदा रहता जहाँ विपरीत ही सिद्धान्त हो।
अब कौन समझाये उन्हें, जब चित्त ही विभ्रान्त हो ।।४३।।

चिन्ता चिताकी आगमें आजन्म जो जलते रहें।
जो कामके उपभोगमें रत हो सदा गलते रहें ।।
'संसार ही यह सत्य है, इसके सिवा बस, कुछ नहीं।'
क्या भूलकर ऐसे जनोंको शान्ति मिलती है कहीं ।।४४।।

हो बद्ध आशा जाल में, निष्फल अगर होते कभी।
क्रोधाग्निकी धू-धू धधकमें भस्म हो जाते तभी ।।
जो कामके उपभोगमें ही तृप्ति केवल मानते।
अन्यायसे ही हो भले, पर धन कमाना जानते ।।४५।।

'है आज मुझको यह मिला, कल प्राप्त करना है उसे।
है आज इतना धन हुआ, कल द्विगुण करना है उसे ।।
है आज मारा शत्रु यह, कल दूसरोंको मारकर।
तब चैन लूँगा सब विरोधी मात्रका संहार कर ।।४६।।

'मैं सिद्ध हूँ, मैं हूँ धनी, बलवान हूँ, जनवान हूँ।
मेरे सदृश कोई नहीं, मैं सब गुणोंकी खान हूँ॥
उन सब सुखोंके साधनोंसे मैं सदा सम्पन्न हूँ।
हूँ यज्ञ-कर्ता, दान-दाता, मैं महा व्युत्पन्न हूँ' ॥४७॥

जो इन 'अहं' की भावनाओंसे सदा संयुक्त हों।
जो क्रूर हों, द्वेषी, महापापी, घृणासे युक्त हों॥
परद्रोह, परनिन्दा, असूयामें सदा जो लग्न हों।
वे हैं असुर, परदुःख लख आनन्दमें जो मग्न हों॥४८॥

इन आसुरी सम्पत्तियोंकी मूर्ति मानो कंस था।
थे उग्रसेन महानृपति, ऐसे पिताका अंश था॥
सब अन्धकोंपर, यादवोंपर छा रहा साम्राज्य था।
मथुरा पुरीमें भोजवंशी क्षत्रियोंका राज्य था॥४९॥

था एक अनुज नरेशका, जिसका कि देवक नाम था।
तनुजा उसीकी देवकी, जिसका चरित्र ललाम था॥
सब वृष्णिवंशी यादवोंमें ख्यात थे वसुदेवजी।
उस देवकीसे व्याहकी बारात उनकी जब सजी॥५०॥

तब दुंदुभी नभमें बजी, फिर पुष्पकी वर्षा हुई।
सब देवगण हर्षित हुए, यह मेदिनी सरसा हुई॥
हों क्यों नहीं ये शुभ शकुन, भवितव्य था कैसा भला।
यह वह द्वितीया-चन्द्र था, अनुदिन बढ़े जिसकी कला॥५१॥

अब देवकीके ब्याहकी तैयारियाँ होने लगीं।
सब ऋद्धियाँ, सब सिद्धियाँ पुरको सजानेमें लगीं॥
तोरण, पताका, रत्नमय मङ्गल-कलश घर-घर रखा।
मणिदीपके आलोकमें जिसने सजावटको लखा॥५२॥

दो ही मिलीं आँखें उसे, इससे नहीं संतोष था।
सब इन्द्रियाँ होतीं अगर आँखें, भला, क्या दोष था॥
यह देवकीका ब्याह था उस ग्रन्थकी प्रस्तावना।
त्रैलोक्यको पावन करे जिसके दरसकी भावना॥५३॥

शुभ लग्नमें विधिसहित कन्यादान देवकने किया।
गणना भला, क्या हो सके, यौतुक नृपतिने जो दिया॥
दीं दासियाँ दो सौ, सजे गज चार सौ अर्पण किये।
पंद्रह सहस्र तुरंग थे, रथ थे अठारह सौ दिये॥५४॥

पाखण्डियोंमें अग्रणी, वह कंस मानो प्यारसे।
रथके तुरंगोंकी पकड़कर रास शिष्टाचारसे॥
वसुदेव एवं देवकीको साथ पहुँचाने चला।
पर हाय! यह नव दम्पतीपर आगयी कैसी बला॥५५॥

'जिस देवकीको प्यारसे रथपर बिठाकर जा रहे।
सुन लो उसीके आठवें हैं गर्भमें जो आ रहे॥
वे विष्णु निजकरसे करेंगे वध तुम्हारा, जान लो।
फूटा तुम्हारे पापका पूरा घड़ा—यह मान लो'॥५६॥

नभकी सुनी वाणी, चतुर्दिक हो चकित उसने लखा।
कच देवकीके वाम करसे खींच असुरोंका सखा॥
असिसे चला सिर काटने, नाड़ी फड़कती पित्तकी।
होती खुशी भी है भयंकर अव्यवस्थित-चित्तकी॥५७॥

'हा! हा! सखे! क्यों कर रहे यह पाप अत्याचार तुम?
कुलमें कहो! अपकीर्तिका क्यों कर रहे विस्तार तुम?
है नव विवाहित यह वधू, भगिनी तुम्हारी भूप हे।'
यों बोलते वसुदेवने कर कंसके दोनों गहे॥५८॥

उन विज्ञवर वसुदेवके स्वरमें भरी थी भर्त्सना ।
सुनकर अधम उस कंसकी ठिठकी तनिक दुर्भावना ॥
वह क्रोधके आवेशमें था तिलमिलाता-सा खड़ा ।
मानो धधकती आग ले ज्वालामुखी पर्वत अड़ा ॥५९॥

वसुदेवजी तब ज्ञानके उपदेश कुछ करने लगे ।
मानो असुरमें सम्पदा दैवी वहाँ भरने लगे ॥
'नश्वर जगतमें जीव सब निज कर्म-फल हैं भोगते ।
सुख-दुःखका दाता अमुक, यह भ्रान्तजन हैं सोचते ॥६०॥

'जो जन्म लेता है जगतमें, मृत्यु लाता संग है ।
जीवन-महापथ बीचमें यह जीव करता जंग है ॥
इस जंगमें वह मृत्युसे है हारता निश्चय, सुनो ।
वह आज हो, सौ वर्षमें हो, हार निश्चित है, गुनो ॥६१॥

'पति-नारि, भाई-बहन, बान्धव, सुत-सुता, माता-पिता ।
ये चार दिनके हैं सगे, सब जायँगे चढ़कर चिता ॥
काया तुम्हारी है नहीं, अपनी जिसे तुम मानते ।
तब जीव ! अपने रूपको तुम क्यों नहीं पहचानते ? ॥६२॥

'तू शुद्ध, बुद्ध, अनन्त है; यह वस्त्र तेरा देह है ।
केवल सराय समान जग, प्रभुधाम तेरा गेह है ॥
फिर देहके हित स्वार्थवश हम जीवहत्या क्यों करें ?
भगवानकी आज्ञा नहीं है, पाप सिरपर क्यों धरें ?' ॥६३॥

पर ज्ञानकी यह सब कहानी कंसपर थी व्यर्थ यों ।
है बीज उगनेमें अनुर्वर भूमिपर असमर्थ ज्यों ॥
अब कंसका संकल्प है दृढ़, जानकर वसुदेवने ।
'तत्काल आयी मृत्युको टालूँ, अगर मुझसे बने ॥६४॥

'सोया भविष्यत् जीवगणका जानता ही कौन है ?
किस रूपमें वह काल है, पहचानता ही कौन है ?
किस हेतु किसकी मृत्यु कब होगी, कठिन है जानना।
भगवान मङ्गल ही करेगा, है निरापद मानना ॥६५॥

'अब बुद्धिमानी है इसीमें, देवकी बच जाय जो।
चेष्टा करूँ, उस कंसके उरमें दया आ जाय जो ॥
निज कर्म करना धर्म है, फल ईशके आधीन है।
निज कर्म करनेमें सदा यह जीव तो स्वाधीन है' ॥६६॥

यह सोचकर वसुदेवजी कुछ कंससे कहने लगे।
वे सत्यता, करुणा तथा गम्भीरतामें थे पगे ॥
'हे सौम्य ! तुम निर्भय रहो, इस देवकीसे डर नहीं।
यह शान्तिकी ही मूर्त्ति है, सकती अमङ्गल कर नहीं ॥६७॥

'जिस देवकीको गोदमें लेकर खिलाया आपने।
उसका चले हैं आप यों तलवारसे सिर नापने ?
वह है प्रथम सौभाग्यका सिन्दूर माथेपर अभी।
हैं नव्य परिणय-चिह्न उसके अङ्गपर विलसित सभी ॥६८॥

'डर देवकीके आठवें ही गर्भसे है आपको।
लाकर समर्पण मैं करूँगा आपके अभिशापको ॥
चुप आप क्यों ? प्रण कर रहा, साक्षी सुनें दिक्पाल सब।
भावी पिताकी धीरताकी, सत्यताकी बात अब ॥६९॥

'यह देवकी निज गर्भसे संतान जो उपजायगी।
वह आपके दोनों करोंमें, बस, तुरत आ जायगी ॥
लाकर समर्पण मैं करूँगा, क्या नहीं विश्वास है ?
मिथ्या न होगी बात, जबतक नासिकामें श्वास है' ॥७०॥

अब देवकी-वसुदेवके दोनों दृगोंसे वह चले।
वात्सल्यके आँसू, रुकी वाणी, रुँधे उनके गले॥
कर जोड़कर वसुदेवजीने टेक घुटने तब दिये।
यों कंससे निज देवकीके प्राण भिक्षामें लिये॥७१॥

वसुदेवजीकी सत्यतामें कंसको विश्वास था।
उस देवकीके अङ्गमें सब देवगणका वास था॥
जब शारदाने कंसकी मति फेर दी, वह क्या करे।
क्या ईश्वरीय विधानसे होगा भला, कोई परे? ॥७२॥

रज-तम-भरे उस कंसके हियमें सतोगुणका उदय?
भगवानकी ऐसी कृपा, उद्धारका आया समय॥
वसुदेवजीके सत्यमय व्यक्तित्वको स्वीकार कर।
वह कंस अब गम्भीर था, वसुदेवजीकी बातपर॥७३॥

'जीवित रहे वसुदेवजी, जीवित रहे यह देवकी।'
बज दुंदुभी नभमें उठी, सुन घोषणा यह कंसकी॥
नव दम्पतीको कर विदा, तब कंस मथुरा आ गया।
पर देवकी-वसुदेवके आतङ्क मनमें छा गया॥७४॥

वह कंस भी तबसे सशंकित ही सदा रहने लगा।
परद्रोहमें रत विष्णु-द्रोही चैन क्यों पाने लगा॥
है द्रोह तो दुर्गुण, सभी यह जानते संसारमें।
पर विष्णुके प्रति द्रोह जो, वह हेतु है उद्धारमें॥७५॥

कुछ काल बीते मञ्जु प्रतिमा देवकीने प्रेमकी।
सुतको किया उत्पन्न, जिसको द्युति मिली वर हेमकी॥
वसुदेवके उरमें मचा फिर द्वन्द्व सहसा घोर अति।
इस ओर ममता, ओर उस थी टेक अपने वचन प्रति॥७६॥

ऊपर उठे वसुदेवजी, ममता वहाँ पदसे कुचल ।
थीं सब दिशाएँ रो रहीं, पर वे न थे किंचित विकल ॥
मूर्च्छित पड़ी थी देवकी, वसुदेवजी प्रणके धनी ।
नवजात शिशुको ले चले, गुन त्यागकी महिमा घनी ॥७७॥

नवजात शिशु-लावण्य लख वह कंस विस्मित हो गया ।
ले अङ्कमें चूमा उसे, उरमें उमड़ आयी दया ॥
"उस आठवीं संतानसे' आकाशवाणीने कहा ।
'है मृत्यु मेरी', फिर इसे है मारना पातक महा ॥७८॥

"सत्यव्रती तुम-सा नहीं, वसुदेवजी ! तुम धन्य हो ।
संसारसे ऊपर उठे तुम, सुरगणोंमें गण्य हो ॥
उत्पन्न अष्टम गर्भसे होगा वदा जो मम मरण ।
जाओ इसे ले घर, अहो निर्दोष शिशु यह गतशरण" ॥७९॥

शिशुको लिया वसुदेवने, पर सोचते मनमें रहे ।
'चलचित्त यह कब किस तरह मनकी तरंगोंमें बहे' ॥
यह बात भी सच्ची हुई, नवजात शिशु वह छाग था ।
जो शीघ्र बलि चढ़ जायगा, मिट जायगा, वह राग था ॥८०॥

इस बीच ही देवर्षि नारद कंसके दरबारमें ।
वीणा बजाते आ गये, डूबा गगन झंकारमें ॥
बोले, सुनो, 'हे कंस ! यदुकुलमें सभी नर-नारियाँ ।
मथुरा पुरीके ये सभी क्षत्रिय तथा क्षत्राणियाँ ॥८१॥

'गोकुल-निवासी नन्द, उनके गोप, परिकर, गोपियाँ ।
सेवा तुम्हारी कर रहीं जो सेवकोंकी टोलियाँ ॥
इन छद्म-वेशोंमें सभी हैं देवगण या देवियाँ ।
भूलो नहीं, तव प्राणघाती विष्णुकी सब शक्तियाँ' ॥८२॥

यों बोल नारद चल दिये आकाशमें वीणा लिये।
वसुदेवजी थे जा रहे निज अङ्कमें शिशुको लिये॥
झट खींच शिशुको कंसने, ज्यों बाज लघु पक्षी धरे।
पटका शिलापर, हाय! बिखरे अङ्ग सब शिशुके, हरे! ॥८३॥

दुर्मित्र जो थे कंसके, कहने लगे 'तुम मत डरो।
वसुदेवजीको, देवकीको बंद कारामें करो॥
अपने पिताको कैदकर, तुम राजगद्दी छीन लो।
अब देवकीके सब सुतोंको मारकर ही नींद लो' ॥८४॥

फिर तो पिताको, देवकी-वसुदेवको कारा दिया।
वध देवकीके आत्मजोंका जन्म लेते ही किया॥
तब विष्णुने भेजा वहाँ निज शेष नामक अंशको।
निजधाममें उद्धार कर लाना उन्हें था कंसको ॥८५॥

वह शेष नामक अंश हरिका गर्भमें आया जभी।
कोई बताये, देवकीका तेज ऐसा था कभी?॥
पर गर्भ कुछ ही मासमें वह लुप्त घोषित हो गया।
उन शेष प्रभुके अंशने तब रोहिणीपर की दया ॥८६॥

उस कंसके आतङ्कसे वसुदेवजीने रोहिणी।
को था छिपाया नन्द-गृहमें मार शङ्का-सर्पिणी॥
प्रभु-प्रेरणा जब योगमायासे वहाँ वे पा गये।
तब देवकीसे रोहिणीके गर्भमें झट आ गये ॥८७॥

जब गर्भ पूरा हो गया, तब रोहिणीने सुत जना।
ज्योतिर्विदोंने जन्म-नक्षत्रादिकोंका फल गना॥
पर-गर्भसे आकृष्ट था वह, नाम संकर्षण पड़ा।
विश्रुत हुआ बलदेव वह, बलभद्र, बलमें था बड़ा ॥८८॥

'राम' कहलाया त्रिलोकी-रमण बन बलराम वह ।
विख्यात निज गुणसे हुआ संसारमें अभिराम वह ॥
वसुदेव मेरे मित्र हैं, यह पुत्र उनका जानकर ।
श्रीनन्दने उत्सव रचा, संतान अपनी मानकर ॥८९॥

निज योगमायाको पुनः आदेश प्रभुने यों दिया ।
'भूपर वसा गोकुल जहाँ, है नन्दकी पत्नी प्रिया ॥
मम भक्त है माता यशोदा, गोपजनकी स्वामिनी ।
वात्सल्यसे उस दम्पतीका मैं सदा रहता ऋणी ॥९०॥

'आया समय, माता यशोदा गर्भमें तू वास कर ।
दूँगा स्वयं कुछ ही दिनोंमें पूर्ण उनकी आश कर ॥
भूलोकमें जब तू प्रकट हो जायगी निज शक्तिसे ।
सादर सपर्या सब करेंगे प्रेम—श्रद्धा—भक्तिसे ॥९१॥

'सब धूप एवं दीपसे, नैवेद्य—ताम्बूलादिसे ।
पूजा करेंगे लोकमें फल-गन्धसे पुष्पादिसे ॥
सिन्दूर देंगी नारियाँ सिन्दूर रखनेके लिये ।
उपहार देंगे लोग सब उद्धार पानेके लिये ॥९२॥

'तू शारदा, कुमुदा, भवानी, भद्रकाली, चण्डिका ।
तू वैष्णवी, विजया, जया, श्री, अम्बिका, जगदम्बिका ॥
तुम माधवी, कृष्णा तथा मातेश्वरी, नारायणी ।
माया, शिवा, दुर्गा, सती, कन्या तथा कात्यायनी ॥९३॥

'ये नाम धारण कर सदा पूजित रहो संसारमें ।
अब इस समय साधक बनो सब दैत्यगण-संहारमें' ॥
सुन योगमाया चल पड़ीं भगवानके आदेशको ।
क्या सह कभी सकते दयामय भक्तजनके क्लेशको ? ॥९४॥

श्रीकृष्णका गोलोक वह, जो नित्यलीला-धाम है ।
चलती जहाँपर दिव्य लीला नित्य, आठों याम है ॥
लीला अखण्ड, अनादि और अनन्त है जो चल रही ।
श्रीकृष्णने गोलोकसे भूलोकमें भेजी वही ॥९५॥

गोलोकमें रुकती न लीला दिव्य वह पल मात्र भी ।
श्रुतिवचन इसको मानकर संदेह मत करना कभी ॥
वह पूर्ण है, यह पूर्ण है, उस पूर्णसे लो पूर्णको ।
यह पूर्ण निकला पूर्णसे, अवशेष पाओ पूर्णको ॥९६॥

बस, एक दीपकसे शताधिक दीप लेते हैं जला ।
पर है प्रथमके तेजमें कोई कमी आती, भला ?
अगणित थलोंसे हो प्रकट लीला-विहारी यदि कहीं ।
लीला करें युगपत सुनो, तो है तनिक संशय नहीं ॥९७॥

परब्रह्म जो श्रीकृष्ण हैं, नायक सदा गोलोकके ।
उद्गम वही हैं विश्वव्यापी तेजके—आलोकके ॥
वसुदेव-मानस-पटलपर वे ध्यानमें अङ्कित हुए ।
तब तेज उनका देखकर सब दैत्यगण शङ्कित हुए ॥९८॥

वसुदेव-मानस-मार्गसे जब रोममें, प्रति रोममें ।
वह तेज फैला, ज्यों छिटकती सूर्य-आभा व्योममें ॥
शत कोटि रवि सम थी प्रभा, ऐसी अलौकिक कान्ति थी ।
रवि आ गये भूतल स्वयं, यह दर्शकोंको भ्रान्ति थी ॥९९॥

जब देवकीके गर्भमें यह तेज आहित हो गया ।
तब दानवोंका, दैत्यगणका तेज मानो सो गया ॥
वह देवकी अब देवकी, कारा न कारा रह गयी ।
जननी अजनकी देवकी, प्रभु-धाम कारा बन गयी ॥१००॥

किसकी, कहो, सामर्थ्य, जो वर्णन करे उस रूपका।
उस देवकीके तेजमय, लावण्ययुक्त अनूपका ?
ब्रह्माण्डका सौन्दर्य जिस सौन्दर्यका कण एक है।
इस देवकीमें अब उसी सौन्दर्यका उद्रेक है॥१०१॥

जब देवकीको कंसने देखा, अचम्भित हो गया।
है विष्णु ही इस गर्भमें, यह सोच शङ्कित हो गया॥
वह चाहता तो देवकीको मार देता जानसे।
पर तेज प्रभुका देखकर उर भर गया शुभ ज्ञानसे॥१०२॥

पातक महा है काटना नारी सगर्भाका गला।
भाई-बहनके प्रेमकी कैसे करूँ हत्या भला॥
मैं वध करूँगा आठवीं इस गर्भकी संतानका।
आकाशवाणीने कहा था, वही घातक प्राणका॥१०३॥

भयभीत कारापर नृपतिने कड़ा पहरा कर दिया।
फिर देवकी-वसुदेव-करमें हथकड़ीको भर दिया॥
श्रीकृष्णमें तन्मय हुआ भयभीत था वह घूमता।
श्रीकृष्णका ही रूप उसकी दृष्टिमें था झूमता॥१०४॥

पूरब दिशामें कृष्ण हैं, पश्चिम दिशामें कृष्ण हैं।
उत्तर तथा दक्षिण दिशामें भी खड़े वे कृष्ण हैं॥
हैं कृष्ण पावक-कोणमें, नैऋत्यमें भी कृष्ण हैं।
वायव्यमें, ईशानमें श्रीकृष्ण-ही-श्रीकृष्ण हैं॥१०५॥

आकाशमें श्रीकृष्ण हैं, पातालमें श्रीकृष्ण हैं।
आँखें जहाँ जातीं, वहाँ श्रीकृष्ण-ही-श्रीकृष्ण हैं॥
आगे खड़े श्रीकृष्ण हैं, पीछे खड़े श्रीकृष्ण हैं।
दायें खड़े श्रीकृष्ण हैं, बायें खड़े श्रीकृष्ण हैं॥१०६॥

वे सूर्यमें श्रीकृष्ण हैं, वे चन्द्रमें श्रीकृष्ण हैं।
तारागणोंके मध्यमें भी झाँकते श्रीकृष्ण हैं॥
इस भाँति था वह देखता निज मृत्युको, निज कालको।
हो वैरसे ही, कृष्णमय आकाश-भू-पातालको॥१०७॥

दीवार कालीसे घिरे तमरूप कारागारमें।
वसुदेवजीकी, देवकीकी नाव थी मझधारमें॥
पर भय नहीं, उद्धारकर्त्ता साथ थे, फिर भय कहाँ।
अज, नारदादि, महेशके सह देवगण आये वहाँ॥१०८॥

गर्भस्थ हरिकी प्रार्थना कर जोड़ सब करने लगे—
"भूपर प्रभो! तुम आ रहे हो, भाग्य हम सबके जगे॥
तुम सत्य हो, संकल्प भी तव सत्य, तुम आधार हो—
संसाररूपी वृक्षके, तुम ही प्रभो! करतार हो!॥१०९॥

"आश्रय प्रकृति भव-विटपका, सुख-दुःख दो फल लग रहे।
फिर सत्त्व, रज, तम—त्रिगुण इसके मूल हैं जाते कहे॥
हैं हे प्रभो! पुरुषार्थ चारों रस कहे जाते जहाँ।
श्रोत्राक्षि, रसना, घ्राण, त्वक्, पथ पञ्च पहुँचाते जहाँ॥११०॥

"होना प्रकट, रहना तथा बढ़ना, बदल जाना अहो!
घटना तथा मरना—कहे जाते स्वभाव यही छहो!
जो धातु सातों हैं विदित, जो अस्थि, मज्जा, मेद हैं।
रस, मांस, शोणित, शुक्र तरुकी त्वचा कहते वेद हैं॥१११॥

"इस वृक्षकी नभ, वायु, पावक, जल तथा यह मेदिनी।
मन, बुद्धि एवं अहंता—ये आठ शाखाएँ बनीं॥
तरुके उपस्थ, गुदा तथा दो नासिकाके छेद हैं।
दो कान, मुख, दो आँख—ये नव कोटरोंके भेद हैं॥११२॥

"जो प्राण और अपान, व्यान, समान और उदान हैं।
जो देवदत्त-कृकल-धनंजय-कर्म-अहि-अभिधान हैं॥
दस प्राण, ये दस पर्ण सम उस वृक्षपर हैं शोभते।
उसपर विहग दो-जीव-विभु, हम जीव, तुम विभु, श्रीपते! ॥११३॥

"तुम सर्वव्यापी हो, अजन्मा, जन्म लीलामात्र है—
इस तत्त्वको जो जानता, सौभाग्यका वह पात्र है॥
ये धन्य हैं वसुदेवजी, श्रीदेवकी भी धन्य हैं।
अवतार लो, करुणानिधे! तव भक्त उभय अनन्य हैं" ॥११४॥

कर वन्दना निज धाम आये, धुन लगी प्रभु-नामकी।
थे दानवोंसे वे दलित, आशा मिली विश्रामकी॥
आशा लगाकर लेखनी! विश्राम तुम भी कुछ करो।
प्राची क्षितिजकी लालिमा लख, प्रेमसे आँखें भरो॥११५॥

अहह! सुहृद संतो! देवकी-गर्भ प्राची
क्षितिज अरुण आभा काञ्चनीसे सुहाती।
हतप्रभ लख आँखें दानवोल्लूककी हैं,
सुर-मुनि-जलजोंको देखतीं भीत-सी वे ॥११६॥

गगन-पटल-भेदी घोष गम्भीर भारी
सुन अमर-सभामें अप्सराएँ जुटी हैं।
शिशुतनु हरिकी वे दर्शनाकाङ्क्षिणी थीं,
नवजलधर-शोभाकृष्ट केकी यथा हों॥११७॥

द्वितीय सर्ग

परम पावन पावसमें रसा
रसमयी हँसती हरिताम्बरा।
प्रकृतिकी कलिता कमनीयता
अति विलक्षण थी परिलक्षिता ॥ १ ॥

जन-विनाश-क्रिया-रत जो हुआ
कुपित काल भयंकर था बना।
परम प्रेमद स्वामिसमागम–
श्रवणसे अति शोभित हो गया ॥ २ ॥

पति छिपे डर कंस नृशंससे,
अहह ! कंस-निषूदन आ रहे।
पतिवियोगकृशा सब दिग्वधू
अति प्रसन्न हुईं मिलनोत्सुका ॥ ३ ॥

जब बँधा नव सेतु पयोधिमें,
हम सभी पितृदर्शन पा गयीं।
हरिकृपावशतः— यह सोचतीं
सुसलिला सरिता भर मोदमें ॥ ४ ॥

हम पिता गिरि दर्शन पा चुकीं,
त्रिपथगे ! तव पूज्य पिता कहाँ ?
'मम पिता हरि भूपर आ रहे',
सुन हुईं सरिता मुदिता सभी ॥ ५ ॥

यदपि सागरमें प्रभुवास है,
कठिन दर्शन था ससुरालमें।
सुलभ हो अब भूपर ही रहा-
यह विचार नदी मुदिता हुई ॥ ६ ॥

मख विनष्ट किये सब दैत्यने
क्षुधित देव, हुताशन शान्त था।
जब सुना मख-रक्षक आ रहे,
सुर समोद, कृशानु समिद्ध हैं ॥ ७ ॥

पवन शीतल-मन्द-सुगन्ध हो
अनघ-स्वागतमें बहने लगा।
सफल जन्म, हरूँ श्रम-बिन्दु जो,
स्वसुतके परमादरणीयका ॥ ८ ॥

हरि समान सुनील अनन्त है,
विदित विष्णुपदाह्वयश्रेष्ठसे।
उडु-सुमौक्तिक-झालरसे सजा
नभ वितान बना हरिके लिये ॥ ९ ॥

बन गया भव-बन्धन-हेतु मैं
विषयमें रत हो, तज दूँ उसे।
अब करूँ पदचिन्तन ईशका—
मन प्रसन्न हुआ यह सोचके ॥१०॥

'हम सनातन वैष्णव अंश हैं,
अब सनातन हैं हरि आ रहे—'
अति प्रसन्न हुआ यह जीव भी,
मिलन-आतुरता उर ले घनी ॥११॥

सुखद पावस, भाद्रपदासिता
सुखद थी वरदा तिथि अष्टमी ।
परिकरावृत मौन बनी सखी
प्रकृति स्वागतमें सज थी खड़ी ॥१२॥

शशिवधू, जननी कुलकी शुभा,
नखत है रुचिरा वह रोहिणी ।
शुभ घड़ी यह जान निशीथमें
झट अगोचर गोचर हो गये ॥१३॥

बज उठी नभमें नव दुंदुभी,
नवल नृत्यरता सुर-अङ्गना ।
सुमन-वृष्टि हुई वर व्योमसे
हरि अगोचर गोचर ज्यों हुए ॥१४॥

अहह ! दिव्य मनोहर रूपका
कथन प्राकृत क्या रसना करे ?
प्रकृति-पार अपार अनूपके
निगम 'नेति' जिसे कहते सदा ॥१५॥

अति अलौकिक पुञ्ज प्रकाशका
झटिति नेत्र-पथागत हो गया ।
वह विभासित हो सहसा उठा
भवन भास्कर-कोटि-मयूखसे ॥१६॥

घन समान कलेवर नील था,
भृगु-पदाम्बुज-लाञ्छन वक्षमें ।
वसन पीत बना परिधान था
कमल-लोचन रूप-निधानका ॥१७॥

धवल शङ्ख, सुदर्शन-चक्रको
परम पावन पद्म, गदा लिये ।
रुचिर रम्य चतुर्भुज रूपश्री
अखिल विश्व विमोहनशील थी ॥१८॥

मुकुट-मण्डित भास्वर भाल था,
कनक-कुण्डल-शोभित कर्ण थे ।
हृदयमें मणि कौस्तुभ, कण्ठमें
विलसिता लसिता वनमालिका ॥१९॥

रुचिर रूप निहार-निहारके
हृदय प्रेम-सुधारससे भरा ।
सपति जोड़ करद्वय देवकी
स्तवन-मग्न हुई, सिर था झुका ॥२०॥

"अज अखण्ड अनादि अनन्त हे !
सगुण निर्गुण ब्रह्म दयानिधे !
अलख-रूप निरञ्जन नित्य हे !
अचल नाथ सनातन तत्त्व हे ! ॥२१॥

"उचित योगिजनालय बीच है,
इस प्रकार समुद्भव आपका ।
उदय पुण्य हुआ किस जन्मका—
तव प्रभो! जनकत्व मिला हमें ?" ॥२२॥

हरि गभीर मनोहर शान्त थे,
निज पिता-जननीपर दृष्टि थी ।
मधुमयी निकली स्मितसे लसी
अभयदा प्रभुकी वचनावली ॥२३॥

"तुम प्रजापति थे सुतपा पुरा,
जनक हे ! जननी यह पृश्नि थी;
तनय हेतु किया तप आपने,
प्रकट मैं तब सम्मुख हो गया ॥२४॥

"तव समान प्रभो ! सुत चाहते,"
चुप हुए तुम यों कह दम्पती।
'मम समान न अन्य, यही करूँ—
सुत बनूँ बहुधा स्वयमेव मैं' ॥२५॥

"प्रथम ज़न्म लिया उस कल्पमें,
अपर कल्प पुनः जब आ गया।
अदिति-कश्यप थे उस कल्पमें,
सुत उपेन्द्र बना उस वार मैं ॥२६॥

"यह तृतीय हुआ अवतार है,
जनक ! हे जननी ! तुम धन्य हो।
सफल जन्म हुआ, अब तो तुम्हें
सतत है रहना मम धाममें" ॥२७॥

स्मृति-पटाङ्कित थी घटनावली,
हृदयमें अति वत्सलता बढ़ी।
नयन-वारि चला बह हर्षसे
विनयशील हुए फिर दम्पती ॥२८॥

"यह अलौकिक रूप दयानिधे !
सहनकी क्षमता जगको नहीं।
शिशु बनो, यह वेष समेट लो !
परम गुप्त रहो खल कंससे" ॥२९॥

"भय न तात! करो, मत माँ ! डरो;
अब न कंस यहाँ रह जायगा।
मम हुआ अवतार, शनैः-शनैः
असुरहीन मही बन जायगी ॥३०॥

"प्रकट गोकुलमें मम मायिकी
वरद शक्ति हुई बन नन्दजा।
वह अचेत यशोमति-अङ्कमें
किलकती इव प्राकृत कन्यका ॥३१॥

"जब बनूँ शिशुरूप, मुझे वहाँ
तुरत डाल यशोमति-अङ्कमें।
सपदि लाकर दो वह बालिका
निडर हो करमें तुम कंसके ॥३२॥

रह वहाँ कुछ काल समोद मैं
फिर यहाँ पहुँचूँ तव गोदमें।
अब विलम्ब करो मत तात हे !
मम लखो इस बालक-रूपको" ॥३३॥

वह चतुर्भुज वैष्णव रूप तो
द्विभुज प्राकृत बालक हो गया।
झटिति अङ्क उठा वसुदेवजी
गमन-उद्यत गोकुलको हुए ॥३४॥

तुरत टूट गई कर-शृङ्खला
पिहित लौह कपाट खुले स्वयं।
पहरुआ सब निद्रित हो गये,
तनय ले वसुदेव चले जभी ॥३५॥

गगनसे वह नीरद श्याम था
कर रहा नव-नीरद-श्यामका—
मुदित हो अभिषेचन, बोलता
मधुर मन्त्र मनोज्ञ समीर था ॥३६॥

निधि अमूल्य लिये वसुदेव थे,
जल-निवारक था फण शेषका।
हरि-पदाब्ज-पराग-निषेविणी
रविसुता मुदिता लहरा उठी ॥३७॥

हरि-पदाम्बुज छू सरिता बढ़ी
रह गयी, बस, जानु समीप थी।
तुरत पार हुए वसुदेवजी
सपदि गोकुल सम्मुख आ गया ॥३८॥

भवन भीतर निद्रित नन्द थे,
अति अचेत यशोमति थीं पड़ी।
त्वरितजात पड़ी लघु कन्यका,
भर रही सब ओर प्रकाश थी ॥३९॥

सुभग श्रीहरिको पधरा वहाँ,
उर छिपा नवजात सुकन्यका।
मधुपुरी पहुँचे वसुदेवजी,
निज प्रिया ढिग मूर्छित थी पड़ी ॥४०॥

त्वरित बंद कपाट हुए पुनः
झटिति आ जकड़ी कर-शृङ्खला।
वह अलौकिक अर्भक रो उठा,
चकित रक्षक चौंक उठे सभी ॥४१॥

रुदनसे भयभीत हुआ महा
लड़खड़ाकर कंस चला जभी।
शकुन सर्व जुटे विपरीत आ,
अशुभ लक्षण था भवितव्यका ॥४२॥

दृढ़ कपाट नहीं अब बन्द थे,
निशित ले असि कम्पित हाथमें।
शिशु-वधार्थ बढ़ा, झपटा यथा
कुपित बाज लवापर टूटता ॥४३॥

विनयसे नत हो निज बन्धुसे
कर रही भगिनी यह प्रार्थना—
"तनय मार दिये तुमने सभी,
अब बची यह अन्तिम कन्यका ॥४४॥

"भुज कहाँ तव वज्र-कठोर ये,
यह कहाँ मृदु मञ्जुल कन्यका।
न भय है इससे—तुम सिंह हो!
हरिण-शावक-सी यह है सुता" ॥४५॥

रुदन थी अति कातर-भावसे
कर रही वह विह्वल देवकी।
असुरमें कब सम्भव हो दया,
पिघलता कब प्रस्तर-खण्ड है ॥४६॥

'अति भयंकर दारुण सर्पिणी
प्रकट प्राणहरी यह कन्यका!'
गरज यों उसको झटसे उठा,
पटकने वह भूपर ही चला ॥४७॥

सजग शक्ति हुई अखिलेशकी
अघट-संघटना घटना हुई ।
वह हुई करसे उड़ कंसके
प्रकट अष्टभुजा बन व्योममें ॥४८॥

प्रबल आयुध धारण थे किये,
वचन सान्द्र पयोद गभीर था ।
"प्रकट घातक रे ! तव हो गया,
विफल पाप किया शिशुघातका" ॥४६॥

चकित हो सब उन्मुख देखते,
अति विचित्र दशा सबकी हुई ।
विवश-सा परमाकुल कंस था,
विफल यत्न सभी उसके हुए ॥५०॥

अति विनीत हुआ कर जोड़के
"अहह ! पापपरायण हूँ महा ।
तुम दया कर दो वसुदेवजी !
तुम दया कर दो अयि देवकी ! ॥५१॥

"हम सभी जगके जन भोगते
फल शुभाशुभ, कर्म किया यथा ।
न सुख-दुःख-विधायक अन्य है,
विपरिणाम उसी कृत कर्मका ॥५२॥

"अधम पामर हाय ! निकृष्ट हूँ,
घृणित हेतु बना तव दुःखका ।
अब भला, पछताकर क्या करूँ,
चल चुका जब तीर कमानसे" ॥५३॥

अमल सम्मुख थे हरिभक्त दो,
फल अमोघ मिला शुभ सङ्गका ।
असुरसे असुरत्व चला गया,
विमल बुद्धि हुई कुछ कंसकी ॥५४॥

"यह समर्पित है असि, लो इसे ।
यह झुका मम मस्तक सामने ॥
विकल हूँ, बदला अब लो चुका
परम निर्मम संतति-घातका" ॥५५॥

प्रकृतिसे लगता निज संत यों,
मलय-चन्दनका तरु हो यथा ।
अति दया स्रवती इस वृक्षसे
सतत है शुभ सौरभ फैलता ॥५६॥

अति दयानिधि दम्पति-चित्तसे
उदित शान्ति तरंग निमज्जिता ।
मलिन धी विमला उस कंसकी
क्षणिक ही परिवर्तित किंतु थी ॥५७॥

तुरत बन्धन-मुक्त किया उन्हें,
सहित आदर-मान विदा किया ।
पर विषण्ण हुआ मुख कंसका
मरण था सिर ऊपर नाचता ॥५८॥

असुर दैत्य समागत वृन्दने
परम खिन्न व्यथाहत कंसके ।
हृदयमें दृढ़ता भर दी पुनः
कर उठा प्रण यों सबने किया—॥५९॥

"कपट-रूप धरे हम घूमते,
नगर, गाँव, जहाँ जिस जायँगे।
सहित जीवन अर्भक एक भी,
न नवजात वहाँ रह जायगा ॥६०॥

"द्विज-मुनीश-सुरादि मखादिसे
कर रहे सब पोषित विष्णुको।
मख-विनाशन, भूसुर-गायका
हनन हो, हरिकी तब मृत्यु हो" ॥६१॥

विमल बुद्धि बनी सत्सङ्गसे
मलिनता-परिपूर्ण हुई पुनः।
फल कुसंगतिका यह देख लो—
अमिय होकर भी विष हो गया ॥६२॥

असुरका असुरत्व जगा पुनः,
वचनका अनुमोदन कर दिया।
पर अशान्त दुराशित चित्तमें
भ्रमण विष्णु सदा करते रहे ॥६३॥

भयद भीषण कंस-नियोजिता
शिशु-वधार्थ चली वह पूतना।
सुहृद पाठक ! गोकुल धाममें
हम चलें, चल तू, मम लेखनी ॥६४॥

अखिल विश्व सुशोभित रूपके
जिस महोदधिके जलबिन्दुसे।
उमड़ गोप-जनाधिप-हर्म्यमें
निहित गोकुल-कुम्भज-कुक्षिमें ॥६५॥

स्वसुत-जन्म-महोत्सव नन्दने
अमित मोद भरे मनसे किया।
व्रज-महीप सुसज्जित हर्म्यके
सदृश गोकुलके गृह थे सजे ॥६६॥

कलश मङ्गल थे प्रति देहली
गृह सजे ध्वज-तोरण-जालसे।
अति अलौकिक थी मणिदीपसे
नगरकी सुषमा मन मोहती ॥६७॥

सुत विहीन यशोमति-नन्दको
सुत हुआ, सुन हर्षित हो उठी।
सकल याचक—भूसुर-मण्डली,
सब यथेप्सित वस्तु मिलीं उन्हें ॥६८॥

सुयश मागध-वन्दि-गणादिने
ललित गान किया अति मोदसे।
अनुचरादि महार्ह सुवस्तुसे
सब यथार्ह पुरस्कृत हो गये ॥६९॥

पहन भूषण-वस्त्र नये गयीं
पहुँच गोकुलकी सब नारियाँ।
कनकके अति सुन्दर थालमें
वसन-भूषण, द्रव्य-फलादि ले ॥७०॥

कलश और सुमङ्गल-दीपसे,
सरस गायन, नृत्य-कलादिसे।
विविध भाँति यशोमति-नन्दको
कर रहे सब भेंट बधाइयाँ ॥७१॥

जलद-नील यशोमति-अङ्कमें
अकथ रूप लखा जिस व्यक्तिने ।
अचल नेत्र रहा वह देखता,
पलकका गिरना अविषह्य था ॥७२॥

दिन हुआ, व्रज धूम मची अहो !
सब चले हलदी-दधि हाथ ले ।
कर उछाल परस्पर लेपते
मुख सुगन्धित रञ्जन-द्रव्यसे ॥७३॥

विविध भाँति प्रमोद-विनोदमें
यह शुभोत्सव पूर्ण हुआ महा ।
कर जमा करने नृपकोषमें
सदल नन्द चले मथुरापुरी ॥७४॥

मन यहीं मनचोर समीप था
तन भले मथुरा नगरी गया ।
अति विलक्षण था सुत नन्दका,
मन चुरा सबका जिसने लिया ॥७५॥

मधुरिमा छविकी वह धन्य थी,
जग बिका कर था उस रूपके ।
यह जनार्दनका अनुराग ही
परम वैभव था व्रज-भूमिका ॥७६॥

विहँसती व्रजकी वनिता बनी
घुस पड़ी गृहमें शिशुघातिनी ।
कुसुम बाहर, भीतर सर्पिणी
शिशु समीप गयी वह पूतना ॥७७॥

हरि विधायक ज्ञान अनन्तके
जगतमें अणु-प्रत्यणु व्याप्त हैं।
लख उसे बदले निज रूपको
ललनने पलकें निज मूँद लीं ॥७८॥

'जग-हितार्थ लिया अवतार है,
यह अनर्थंकरी शिशुघातिनी।
प्रथम स्त्री-वध ही करना पड़ा'
नयन मूँद लिये यह सोचके ॥७९॥

'दृग लखें यदि मायिक रूपको,
कपटका परदा फट जायगा।
भयद आकृतिसे डर जायगी
मृदुल माँ,' पलकें निज मूँद लीं ॥८०॥

'अति जघन्य क्रिया रत पूतना
रुधिर-पान-परा शिशु-घातिनी।
अशुभ है इसके प्रति देखना,'
नयन मूँद लिये यह सोचके ॥८१॥

'सुकृत क्या, जिसका फल मोक्ष है
उदित आज हुआ, यह देख लूँ।
पलक ढाँप लगाकर ध्यान मैं'
नयन मूँद लिये यह सोचके ॥८२॥

'सदय बाहरसे यह माँ बनी,
कुटिल भीतर निर्दय राक्षसी।
कुटिल - दाम्भिक-दर्शन - पापसे
बच सकूँ' पलकें निज मूँद लीं ॥८३॥

'यदपि है मिलनी गति अम्बकी,
कठिन दारुण दुस्सह वेदना।
अहह! मृत्यु समय यह पायगी'
विकल हो पलकें निज मूँद लीं ॥८४॥

'अभय देख मुझे हट जाय या
निरख लूँ इसको करुणार्द्र हो।
उभय बाधक है असु-घातमें'
नयन मूँद लिये यह सोचके ॥८५॥

'यदि दृगग्नि जला कर राख दूँ,
वध अलक्षित ही रह जायगा।
जग सुशान्ति लहे वध-ज्ञानसे'
नयन मूँद लिये यह सोचके ॥८६॥

'मधुर रे! नवनीत मिला नहीं,
प्रथम ही विकराल विषस्तनी।
यह मिली कटु घूँट प्रदायिनी'
नयन मूँद लिये यह सोचके ॥८७॥

'उदर विश्व असंख्य डरे हुए
निडर हों, विष नष्टप्रभाव है।
समझ लें जब भीतर दृष्टि हो'
नयन मूँद लिये यह सोचके ॥८८॥

अगम तथ्य सदा हरिकृत्यके
कथित ये कुछ कल्पित भाव हैं।
नयन मूँद पड़े हरिको उठा,
कुच विषाक्त दिया मुख अङ्क ले ॥८९॥

सविष पीन पयोधर मार्गसे
बह सदुग्ध चलीं असु-शक्तियाँ।
परम व्याकुल हो तब पूतना
'तज मुझे, तज रे' कहने लगी ॥६०॥

पर भला, शिशु क्यों अब छोड़ता,
बुझ चला खल-जीवन-दीप था।
अति भयावह अन्तिम दृश्य था,
त्रसित भाग चली जब पूतना ॥६१॥

कपट-वेष न सम्भव रह सका,
प्रकट थी निज प्राकृत रूपसे।
प्रलय-मेघ समान चिघाड़ती
जब गिरी वह बाहर गोष्ठमें ॥६२॥

तरु-लतादिक नष्ट हुए सभी,
दलित मार्ग हुआ षट कोसतक।
उलट अद्रि पड़े, धरणी धँसी,
विकट नाद जहाँ करती गिरी ॥६३॥

गिरि प्रकम्पित, कम्पित मेदिनी
त्रसित गोप तथा सब गोपियाँ।
शिशु बचा कि मरा, सब पूछते
अति सशङ्क चले ढिग पूतना ॥६४॥

अशुभ-रूप गतासु निशाचरी
गिरि समान महा विकराल थी।
हल यथा मुख दाढ़ सुतीक्ष्ण दो
गिरिगुहा-सम रन्ध्रित नासिका ॥६५॥

विकृत केश, लटें बिखरीं यथा
अमित हों कुश-कण्टक-झाड़ियाँ।
मृतक नेत्र धँसे लगते यथा
जलविहीन गये धँस कूप दो ॥९६॥

पुलक-पूर्ण समस्त शरीर था,
वन यथा लघु कण्टककीर्ण हो।
उदर शुष्क सरोवर-गर्त-सा
गुरु नितम्ब यथैव कगार दो ॥९७॥

उरज अश्मशिला-सम दीखते
वदन चूचुक एक दिये हुए।
अपरको पकड़े करसे तथा
किलकता सुत था वह नन्दका ॥९८॥

निरख, दौड़, यशोमतिने लिया
झट उठा शिशुको उरसे लगा।
अति प्रसन्न हुईं मुख चूमती,
परम विस्मित लोग सभी हुए ॥९९॥

'सुकृत कर्म फलोदय स्वामिनी!
ग्रह टला, यह बालक बच गया।'
परम प्रेम गिरा कहने लगीं
मुदित हो व्रजकी सब नारियाँ ॥१००॥

विविध मङ्गलमय उपचारसे
विविध मज्जन-पान-क्रियादिसे।
विविध दान तथा द्विजभोजसे
सब हुई ग्रह-शान्ति यथोचिता ॥१०१॥

मुदित नन्द मिले वसुदेवसे
जब गये मथुरा कर सौंपने ।
सुन कुचक्र वहाँपर कंसका,
न ठहरे, झट गोकुल आ गये ॥१०२॥

चकित नन्द हुए अति, पूतना-
वध-कथा जब ज्ञात हुई उन्हें ।
'हरि अपार दयार्णवकी कृपा
बच गया सुत आपद-सिन्धुसे' ॥१०३॥

कर विखण्डित-खण्डित पूतना-
शव किया जब दग्ध चिता रचा ।
मलय-चन्दन-गन्धित धूमसे
परम विस्मित लोग हुए सभी ॥१०४॥

हरि समुद्गम सौरभ मात्रके,
तन छुआ वह था हरि-देहसे ।
मलय-गन्धित क्षुद्र कुकाठ भी
मलयता लहता, सब जानते ॥१०५॥

द्वेषागता, तदपि दुग्धद धाय माना,
मायामनुष्य हरिने कर पूतनाका ।
प्राणान्त, धाम उसको निज दिव्य भेजा
प्रीता यथा सहज प्रेममयी निजाम्बा ॥१०६॥

हे हो! मुरारि! उसको निज भक्ति देते,
जो पाठ या श्रवण है करता कथाका ।
सद्ग्रन्थ-पाठ-श्रवणादिक-प्रेरिता हो
तेरा चरित्र लिखती मम लेखनी भी ॥१०७॥

तृतीय सर्ग

"चलो, सखी ! हम चलें देखने गोकुलका जादू-टोना ।
जिसकी रूप-माधुरी मोहित गोकुलका कोना-कोना ॥
मन-तनमें अवलोकन जिसका रसमय विद्युत फैलाता ।
धन्य आज व्रज-भूमि, नन्दजी, धन्य यशोदाजी माता ॥ १ ॥

"अरी सखी ! देखा क्या तूने उस बालकका मुसकाना ।
अरुण होठ घनश्याम छटासे मृदुल दामिनी दमकाना ॥
कर-पद-अम्बुजको उछालना, रोना, भरना किलकारी ।
बलि-बलि जाऊँ, मनोहारिणी उस शिशुकी चेष्टा सारी" ॥ २ ॥

सभी गोपियाँ ऐसी बातें आपसमें करती रहतीं ।
सदा नन्दके सदन यशोदा सबका हैं स्वागत करती ॥
आज जन्म-नक्षत्र तीसरा, शिशुने करवट है बदली ।
प्रथम बार इसका उत्सव है, धूमधाम है गली-गली ॥ ३ ॥

आज यशोदाके आँगनमें चहल-पहल है हुई मची ।
आमन्त्रित जन स्वागतमें है श्रान्त यशोदा रची-पची ॥
नटवर नर-लीला रत सुन्दर व्रज-जन-गण-मन-तन हरता ।
नन्हा-सा शिशु उठा नींदसे शैशव-सुलभ रुदन करता ॥ ४ ॥

उत्सवका गुरु भार शीशपर, अनवधान शिशुसे माता ।
सुन न सकी पर, बिना यशोदा लाला चैन कहाँ पाता ॥
पास पड़े छकड़ेपर रक्खे दूध-दहीके थे मटके ।
मानो कुपित कन्हैयाने निज पैरोंसे मारे-झटके ॥ ५ ॥

हड़-हड़ करके मटके फूटे छकड़ा उलट गया सारा ।
मटकोंसे बह चली, देख लो, दूध-दहीकी पृथु धारा ॥
सभी गोपियाँ दौड़ पड़ी हैं, माता भी दौड़ी आयी ।
यह विचित्र घटना जब देखी, बुद्धि सभीकी भरमायी ॥ ६ ॥

कुछ बच्चोंने आँखों देखी थी घटना, वे बोल पड़े ।
'नन्हे शिशुने छकड़ा उलटा, दिये उसीने फोड़ घड़े' ॥
पर विश्वास नहीं हो पाया बच्चोंकी इन बातोंपर ।
कभी नहीं सम्भव है, ऐसा नन्हा बच्चा सकता कर ॥ ७ ॥

यह दुर्घटना दैवयोगसे हुई, सभीने मान लिया ।
शिशु-ग्रहके शान्त्यर्थ पिताने दानादिक उपचार किया ॥
पर समस्त विधिके विधानमें छिपा हुआ रहता कारण ।
प्रकृति-नटी नटराज-विहित सब आज्ञा करती सिर धारण ॥ ८ ॥

हिरण्याक्ष-सुत गर्वित उत्कच लोमश ऋषि आश्रम आकर ।
तरु-पल्लव-दल-दलन-दोषसे कठिन शाप ऋषिका पाकर ॥
अहिके केचुलके समान जब लगा देह उसका गिरने ।
'पाहि, पाहि, शरणागतवत्सल !' लगा प्रार्थना यों करने ॥ ९ ॥

ऋषि बोले, उत्कच ! श्रीहरिको वैवस्वत मन्वन्तरमें ।
करना है भूभार-हरण अवतार ग्रहणकर द्वापरमें ॥
जब लेंगे अवतार कृष्ण, तुम गोकुलमें तब जाओगे ।
उनके पदका स्पर्श प्राप्तकर मुक्ति-लाभ कर पाओगे ॥१०॥

आज उसीने छकड़ेमें छिप है अपवर्ग किया अर्जित ।
उद्धारक बन जाता है यदि मरना हो सत्सङ्ग-जनित ॥
बाल-नाट्यके रङ्गमञ्चपर तृणावर्त है आनेको ।
हरिके हाथोंसे हत होकर निज उद्धार करानेको ॥११॥

पूर्वकालमें सहस्राक्ष नृप पाण्डुदेशका था स्वामी ।
जल-विहार-रत एक दिवस था पत्नीसहित बना कामी ॥
दुर्वासा आ निकले, उनको नृपने नहीं प्रणाम किया ।
'राक्षस हो रे दुष्ट ! अभी' ऋषिने राजाको शाप दिया ॥१२॥

ऋषि प्रसन्न हो गये पुनः हो राजासे बहुविधि प्रार्थित ।
कर शासन प्रसन्न होते हैं सज्जन यदि नत हो शासित ॥
जब होगा कृष्णावतार, तब तोड़ उन्हींके हाथों दम ।
आवागमन-रहित हो जाना पाकर उनका धाम परम ॥१३॥

एक समय शिशु लिये अङ्कमें थी गृह-कार्य-निरत माता ।
भारी इतना अधिक हुआ वह, था न गोदमें टिक पाता ॥
हो विस्मित, शिशु धरा निहितकर जगन्नाथका ध्यान किया ।
शङ्कित हो, अनमने भावसे गृहकर्मोंमें चित्त दिया ॥१४॥

उठा बवंडर बड़े वेगसे, अन्धकार छाया गहरा ।
हिली मेदिनी, सुधि-बुधि भूली, सका न रह धीरज ठहरा ॥
हरिको उड़ा बवंडर भागा, व्याप्त धूल तमतोम तथा ।
क्रन्दन करने लगी यशोदा, वत्स-विहीना गाय यथा ॥१५॥

घोर दुर्दशा तृणावर्तकी कैसी, देखो, हुई उधर !
चला खेल करने पावकसे, था सूखा-सा तृण लघुतर ।।
बालक था या वज्र अरे, या नीलरत्नका गिरिसम खण्ड ?
पल-पल भार बढ़ा जाता था गुरुतर, गुरुतम, असह प्रचण्ड ।।१६।।

पाठक ! मत यह शङ्का करना, अतिशयोक्तिकी क्या है बात ?
अष्टसिद्धियोंमें गरिमा है योगीजनका कौतुक ख्यात ।।
योगेश्वरसिरमौर कृष्णके लिये कर्म है क्या दुस्तर ?
तूल राशिको चिनगारीसे संतत जलनेका है डर ।।१७।।

चाहा पटक इसे मैं मारूँ, किंतु छोड़ता था अब कौन ?
'मुझे छोड़ दो, मुझे छोड़ दो!' किंतु अनोखा शिशु था मौन ।।
शिलाखण्डपर शिलाखण्ड-सा व्रजमें गिरकर चूर हुआ ।
खण्ड-खण्ड हो गये अङ्ग सब; जीव देहसे दूर हुआ ।।१८।।

एक नमूना बना और यों बालक-त्राण चमत्कृतिका ।
हुआ फलोदय नन्द-यशोदाके विशाल तप, शुभ कृतिका ।।
होता साधु-त्राण, दुष्टोंका दलन अन्तमें, है निश्चय ।
यही विधान अमिट ईश्वरका—दुष्टपराजय, सज्जन-जय ।।१९।।

एक बार मुख चूम-चूम माता थी सोच रही मनमें—
'स्वल्प दूध पीता शिशु है, किस भाँति बढ़ेगा बल तनमें'—
अन्तर्यामी था बच्चा, स्तनसे दोनों पय-धार बही ।
पीते नहीं अघाता था वह, उदर बीच था जग सब ही ।।२०।।

लगी यशोदा यही सोचने—'कैसे दूध पचायेगा' ।
अनभ्यस्त यह मेरा नन्हा, कष्ट बहुत ही पायेगा ।।
ऐसे माता सोच रही थीं, बच्चेने ली अँगड़ाई ।
खुला जँभाईमें मुख उसका, पड़ा चराचर दिखलाई ।।२१।।

मुखमें अगणित सरिता-सागर मुखमें अगणित गिरिमाला ।
दीख रहा था नभ भी अगणित दिनमणि-शशि-तारोंवाला ॥
तृप्तिलाभ कर रहे जीव थे अगणित माँका पीकर पय ।
अण्डज, पिण्डज अखिल विश्वकी झाँकी मुखमें हुई उदय ॥२२॥

देख सकी वह दृश्य यशोदा नहीं, हुई विस्मय-भय-युत ।
कभी न देखा था जीवनमें, ऐसी थी वह छवि अद्भुत ॥
मूँद आँख वह लगी सोचने—'जाग्रत हूँ या सुप्त अरे ।
मतिभ्रम है या सत्य दृश्य यह ?'—समाधान अब कौन करे ॥२३॥

चुलबुल-कुलबुल किया गोदमें, माताने आँखें खोलीं ।
लखा सुहासित आनन शिशुका, मुखसे यों बातें बोलीं ॥
"लगता है यह फेर ग्रहोंका, चलो ज्योतिषी बुलवाऊँ ।
ग्रह-गोचर-जन्माङ्क-जनित फल जान यथोचित करवाऊँ" ॥ २४॥

यादवगणके गणक गर्गजी ज्योतिषशास्त्रविधाता थे ।
भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान—तीनों कालोंके ज्ञाता थे ॥
एक बार वसुदेव-प्रेरणा पाकर गोकुलमें आये ।
नन्दलालके नामकरणका शुभ अवसर मानो लाये ॥२५॥

"हे आचार्य ! आपके यशके अखिल विश्वमें सुमन खिले ।
हे यादवकुलपूज्य पुरोहित ! अहोभाग्य है, आप मिले ॥
आप हमारे नन्हे शिशुका नामकरण-संस्कार करें ।
बीते सुखमय जीवन शिशुका, ऐसा मन्त्रोच्चार करें" ॥२६॥

सुन बातें इस भाँति नन्दकी, गर्गाचार्य विहँस बोले—
"अन्तरङ्ग तुम, बात तुम्हारी मान्य बिना नापे-तोले ॥
किंतु हमारे इन हाथोंसे नामकरण तव शिशुका सुन ।
इसे देवकीका सुत अष्टम गर्भज लेगा मनमें गुन ॥२७॥

"अष्टम गर्भ देवकीसे था पुत्रजन्म होना निश्चय।
कन्याजन्म बात झूठी है, कंस सदा रखता है भय॥
अतः गुप्त ही नामकरणकी बात सभीसे तुम रखना।
दुष्ट कंसके दुराचारसे शङ्कित सदा बने रहना" ॥२८॥

गुप्तरीतिसे गोशालामें नामकरण-संस्कार हुआ।
कृष्ण-नाम उस दिनसे धरतीपर सबका आधार हुआ॥
"यों तो जगमें युग-युगान्तमें नाम अनेकों पायेगा।
वसुदेवात्मज कभी हुआ था, वासुदेव कहलायेगा ॥२९॥

"रोम-रोममें कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड महा जिसके विलसित।
सृष्टि-स्थिति-संहार कर्म जो कौतूहलवश करता नित॥
इसकी जन्म-कुण्डलीमें हैं ये पाये लक्षण जाते।
इसके हस्त-पदाङ्कित ये सब चिह्न यही हैं बतलाते ॥३०॥

धन्य नन्दजी, धन्य यशोदा हो ऐसे सुतको पाकर।
आज धन्य, कृतकृत्य हुए हैं सफल नयन इसको लखकर"॥
भर अतृप्त नयनोंमें आँसू गद्गद, प्रेम-विभोर हुए।
निज आश्रमको चले गर्ग, तन-मन शिशु-इन्दु चकोर हुए ॥३१॥

पाठक ! अब कुछ बाल्यकालकी लीलाका करता वर्णन।
लो, सम्मुख घनश्याम-गौर दो बालकका कर लेना दर्शन॥
रेंग रहे हैं घुटनोंके बल कृष्ण-राम दोनों भैया।
दूर-दूर हटते जाते हैं, जब धरने जाती मैया ॥३२॥

रुनझुन करते किंकिणि-नूपुर ज्यों-ज्यों वे हटते जाते।
किल-किल करकर खिल-खिल हँस-हँस माताओंको भरमाते॥
धूलि-धूसरित-अङ्ग लाड़ले, माता पकड़ उन्हें लाती।
धूल पोंछ अञ्चलसे ढककर दुग्ध-पान है करवाती ॥३३॥

दधि-माखनके मटके भूपर रखे उन्हें जो मिल जाते।
लुढ़काकर वे अङ्ग-अङ्गमें दधि-माखन थे लिपटाते॥
दधि-कर्दममें लोट-लोटकर माता-नेत्र बचा लेना।
नित्यकर्म दोनों भैयाके देह सपङ्क बना लेना॥३४॥

माताएँ निज स्वच्छ वसनकी चिन्ता छोड़ उठा लेतीं।
'नटखट दोनों, अहो लाड़ले!' यह कहकर मुसका देतीं॥
नहला उनको पोंछ-पोंछकर अङ्गराग-रञ्जित करके।
पुनः छोड़तीं सावधान कर, आँखोंको अञ्जित करके॥३५॥

पर इस नित्यखेलमें बालक भूल कभी क्या कर सकते?
नित्यकर्मसे माताओंके फिर मन क्यों थे भर सकते॥
माताएँ इस दैनिक लीलासे जैसी प्रमुदित होतीं।
अरी लेखनी, रसने! क्या तू उसका वर्णन कर सकती॥३६॥

देख-देख ये लीलाएँ आनन्दित सब गोकुलवासी।
लीला-सुधा-पान हित व्याकुल सभी गोपियाँ मुग्धा-सी॥
कई बहाने लेकर वे सब नित-नित नन्द-सदन आतीं।
मन तो यहीं छोड़ जाती, पर तनकी सुधि भी बिसरातीं॥३७॥

जब पैरोंसे लगे घूमने राम-श्याम दोनों भैया।
इनकी देखरेखमें ही चिन्तित रहतीं दोनों मैया॥
कभी पूँछ बछड़ोंकी धरते, बछड़े भाग खड़े होते।
जब घसीटते, तब देते वे पूँछ छोड़ रोते-रोते॥३८॥

कभी पड़े निद्रित श्वानोंको झटका मार उठा देते।
कभी चपल मृगशावकको धर अपनी गोद बिठा लेते॥
कभी मयूर-नृत्यको लखकर साथ नृत्य करने लगते।
कभी-कभी दादुर-ध्वनि सुनकर उसके सुरमें सुर भरते॥३९॥

कभी बिल्लियोंको देखा तो पीछेसे दौड़े आते।
'म्याऊँ-म्याऊँ' उनकी बोली दोनों भैया दुहराते॥
तोते कभी, कभी मैनाको, कभी देख तितली सुन्दर।
पीछा करते अस्त-व्यस्त वे चाह लिये, लूँ करगत कर॥४०॥

कभी-कभी इनके पीछे वे व्याकुल हो फिरते-फिरते।
बड़ी कठिनतासे बच जाते गड्ढेमें गिरते-गिरते॥
कभी हंसवत्, कमल-पुष्पको जलसे बाहर ले लायें।
यही चाहते, जन-निषेधसे किंतु न ऐसा कर पायें॥४१॥

कभी वानरोंकी टोलीके पास पहुँच दोनों आते।
स्वाभाविक चाञ्चल्य भूलकर वानर सभी सहम जाते॥
मानो करते याद 'लोटते थे पूर्वज जिस पदरजमें।
अहो धन्यतम आज सुलभ है वही, यहाँ इस व्रजरजमें'॥४२॥

अजब रंग लाती थी उनकी प्यारी तुतली-सी बोली।
मृतक-देह-चैतन्यदायिनी बूटी मधुर अमिय घोली॥
राम-कृष्ण-मुख-स्रवित सुधारस तृप्त न होते नित पीकर।
महाभाग्य व्रजनर, व्रजवनिता सायं नन्दभवन जाकर॥४३॥

राम-श्याम कुछ हुए सयाने, मिलें अनेकों हमजोली।
बड़े प्रेमसे आगे होकर बाँधी बच्चोंकी टोली॥
व्रजकी सुभग वीथियाँ मानो वक्षःस्थलको फैलाकर।
हरि-चरणोंकी बाट जोहतीं, होतीं उन्हें धन्य पाकर॥४४॥

मधु-मेवा-पकवान छोड़कर दूध-दही-माखन खाना।
है स्वभाव-वैचित्र्य श्यामका इसके लिये मचल जाना॥
कुछ मुखमें, कुछ हाथोंमें ले माखन-मिश्रीका ढोका।
घूमा करते, नहीं किसीने कभी उन्हें रोका-टोका॥४५॥

लिये बालकोंकी टोलीको दोनों भैया घूम रहे।
हाथोंमें, मुखमें माखन भर खाते-गाते झूम रहे॥
निर्निमेष गोपियाँ निरखतीं—ऐसा था हरि आकर्षण।
बरबस मनको खींचे लेता, टोना था या वशीकरण॥४६॥

मनमें उठता प्रबल भाव यह, श्याम हमारे घर आयें।
हम माखन निकालकर रक्खें, ये चुपके-से खा जायें॥
पर ये तो व्रजराज-कुँअर हैं, इनके घरमें कमी नहीं।
हम ग्वालिनके दधि-माखनसे इनको होगी प्रीति कहीं॥४७॥

नित-नित मनकी यह अभिलाषा पल-पल बढ़ती ही जाती।
पर कोई गोपी अभिलाषा प्रकट नहीं थी कर पाती॥
यह अतृप्त अभिलाषा गोपीका मन चञ्चल कर देती—
'आते श्याम माँगने माखन, मैं हाथोंको भर देती'॥४८॥

पर मनकी यह अकथ वेदना मन-ही-मन सहती रहती।
ध्यान लगा निज इष्टदेवसे रो-रोकर कहती रहती॥
"श्याम-हृदयमें करो प्रेरणा, मेरे घर माखन खायें।
सखा सहित संकोच छोड़कर मेरे घर आयें-जायें॥४९॥

कभी देखती स्वप्न, श्याम हैं सहित सखा-गण आये घर।
चुरा खा रहे हैं दधि-माखन दुग्धभवनके घुस भीतर॥
नित चिन्तनके फलस्वरूप यह स्वप्न देखती थी गोपी।
मनकी उर्वर भूमि सींचकर यही भावना थी रोपी॥५०॥

हुआ स्वप्न यह ठीक, भावना सत्य हुई, पुलकित होकर—
देखा गोपीने चुपकेसे श्याम साथियोंको लेकर॥
घरमें घुसकर चुरा-चुराकर दधि-माखनको हैं खाते।
दुबक-दुबककर, गृहपत्नीसे आँख बचाते हैं जाते॥५१॥

अरे योगकी कठिन साधनाके साधक ! बतला सकते ?
ब्रह्मानन्द-प्राप्तिके ग्राहक ! क्या तुम हो समझा सकते ?
गोपीका मन डूब रहा आनन्द-सिन्धुमें जिस भाई।
प्रेमानन्द-उदधिकी तुमने कणिका भी क्या उस पाई ? ॥५२॥

अन्तर्यामी श्याम गोपियोंकी इच्छा पूरी करते।
घर-घर घूम-घूम दधि-माखन खाकर उनका जी भरते॥
ऊँचे छींके जहाँ देखते, ऊखलपर थे चढ़ जाते।
दधि-माखन चुपके निकालकर बड़े प्रेमसे थे खाते॥५३॥

कभी-कभी बालकपर बालक, उसपर अपने चढ़ जाते।
ऊँचे रखे हुए छींकेपर मटकोंको उतार लाते॥
खाकर स्वयं, खिला बच्चोंको और तृप्तकर मर्कटदल।
लेकर गोपी-मन चुपकेसे नटखट लाला देते चल॥५४॥

जबतक रहते श्याम भवनमें, रहती मनमें ललक प्रबल।
'पकड़ लगा लूँ गले उन्हें' पर पीछे कर मलती केवल॥
'फिर आयें घनश्याम, उन्हें तब पकड़ूँगी'-करती निश्चय।
कहीं बंद आना ही कर दें—यह भी पर रहता था भय॥५५॥

कभी कभी साहस कर कोई गोपी सम्मुख आ जाती।
नन्दलाल हँसते, पर उठती काँप सखाओंकी छाती॥
वे सब कहते—'भागो, देखो, देख रही गोपी, भैया।
क्या होगी तब दशा, कन्हैया ! यदि सुन ले तेरी मैया' ॥५६॥

कर नवनीत, दही मुखमें भर, नयन मिला, गोपीसे, हँस।
घरसे जाते निकल, किंतु जाते हैं उसके मनमें बस॥
'साहस है तो मुझे पकड़ लो, आकर मैयासे दो कह।
जो कुछ भी वश चले, करो सब; मनमें जाय नहीं कुछ रह' ॥५७॥

हँसती गोपी रह जाती, पर कहती है मनके भीतर।
तुमसे बढ़कर चोर कहीं भी क्या है इस वसुधा-तलपर?
जिसपर तेरी दृष्टि भूलकर भी है, लालन! पड़ी कहीं।
मन-तन-धन सर्वस्व गया लुट, तुम कहते—'हम चोर नहीं' ॥५८॥

कभी-कभी अत्यन्त छिपाकर गोपी रखती दधि-माखन।
रिक्त भाण्ड बाहर रख कहती—'आज छकेंगे मधुसूदन' ॥
आते कृष्ण सखाओंको ले, रिक्त भाण्ड ही सब मिलते।
'हम सब छके, कन्हैया! देखो', बालक सब हँस-हँस कहते ॥५९॥

प्रेममग्न हो गोपी हँसती कहती—'पकड़ तुम्हारा कर।
दधि-माखनकी इच्छा यदि, ले तुम्हें चलूँगी, वे जिस घर' ॥
'अरी! बेच आ इन बच्चोंको, इनकी बुद्धि भले सस्ती।
मैं तो बात हृदयकी जानूँ, दधि-माखनकी क्या हस्ती' ॥६०॥

'खबरदार! मत छूना मुझको, मैं यह चतुराई जानूँ'।
'कभी नहीं हो सकता, गोपी! हार कभी अपनी मानूँ' ॥
'लाला! मुझे बता दो मुझसे हारोगे कैसे, प्यारे!
तेरी लगती चाल निराली, तुम तो जगसे हो न्यारे' ॥६१॥

'यह सब मेरी चाल सुनो, मातासे जाकर कह देना।
वही करेगी न्याय, वहीं सब बातें मेरी सुन लेना' ॥
तब फिर छिपा रखे माखनके निकट श्याम पहुँचे जाकर।
गोपी कहती—'मत खाओ' पर भाग गये हँसकर खाकर ॥६२॥

यही हाल सब गोपीजनका, व्याकुलता नित-नित बढ़ती।
'एक बार बाँहोंमें भर लूँ' नित उपाय सोचा करतीं ॥
युक्ति सभीने मिलकर सोची, जैसा बोले थे घनश्याम।
चलकर कहें यशोदाजीसे, 'लल्ला करता कैसा काम' ॥६३॥

लज्जाका अपराध श्रवणकर जब माता धमकायेगी।
और मारनेको दौड़ेगी, हम सबकी बन आयेगी॥
'छोड़ो इसे, न मारो', कहते उरमें उन्हें छिपा लेंगी।
इस प्रकार अनबुझी पिपासा अपनी, सजनि! बुझा लेंगी॥६४॥

इसी प्रेमसे भावान्वित हो, यह उपाय सुन्दर पाकर।
आज यशोदाके आँगनमें जुटी गोपियाँ हैं आकर॥
कहतीं—"सुनो, यशोदा रानी! कृष्ण तुम्हारा है नटखट।
घर-घर चुरा-चुरा दधि-माखन यह खा लेता है झटपट॥६५॥

"हमजोली बच्चोंको लेकर उनका बन जाता नेता।
खाता स्वयं खिला बच्चोंको और वानरोंको देता॥
खड़ा वहाँ गम्भीर-शान्त हो, बना साधु-सा है कैसा?
मानो निरपराध बालक हो, भाव दिखाता है ऐसा"॥६६॥

छड़ी हाथ ले माता दौड़ी, श्याम चले गोपीकी ओर।
भुजा उठा गोपीने पकड़ा, श्याम छिपे आँचलकी छोर॥
छुड़ा एकसे लेती मैया, छिपा दूसरी तब देती।
चिर अतृप्त अभिलाषा अपनी पूरी गोपी कर लेती॥६७॥

माता थकी पसीनेसे तर छड़ी फेंक हो गयी खड़ी।
कहने लगीं गोपियाँ, 'इसके पीछे क्यों तू महरि पड़ी?'
तुरत श्यामको गोद उठाकर लगी पूछने तब माता।
'दधि-माखनको चुरा-चुराकर गोपीके घर क्यों खाता?'॥६८॥

"अपनी वस्तु अगर मैं ले लूँ, चोर, भला, मैं क्यों बनता?
चोर वही, मेरी चीजोंको मुझे नहीं अर्पण करता॥
किसी दूसरेसे क्या कोई साझा इस जगमें मेरा?
जगसे पूछ, 'जिसे कहता तू 'मेरा', क्या वह है तेरा?"॥६९॥

हारे यहाँ कन्हैया भी तो गोपी अङ्क लगा पाई।
किसकी हार, जीत है किसकी, तुम कह सकते हो, भाई ?
यही हारमें जीत, जीतमें हार प्रेमका है बाना।
यह अद्भुत रहस्य प्रेमीका सभी गोपियोंने जाना ।।७०।।

पर लल्लाकी बात समझनेमें माता असमर्थ रही।
सबका स्वामी लल्ला बनता, यह झूठी या बात सही ?
इसी बीचमें 'लल्ला मिट्टी खाता है' अभियोग लिये।
बालक एक दौड़ता आया बलदाऊको साथ किये ।।७१।।

बलदाऊने भरी गवाही, माताने विश्वास किया।
लल्लाके दोनों हाथोंको एक हाथसे पकड़ लिया ।।
'सचमुच मुझे बता दो, लल्ला ! क्या तुमने मिट्टी खायी ?
अगर रोगसे पीड़ित होगा, कौन बने उत्तरदायी ?' ।।७२।।

'इस समस्त वसुधाकी मिट्टीको खाकर भी रोग नहीं।
मुझे सतायेगा, माताजी ! बन जायेगा भोग सही ।।
भैया भी बच्चोंकी बातोंमें आकर अनजान बने।
मृण्मय वसुधाको तो मैया ! मैं रखता मुखमें अपने' ।।७३।।

'बातें नहीं बनाओ, लल्ला ! मुख खोलो, तुम दिखलाओ।
चिकनी-चुपड़ी इन बातोंमें मुझे नहीं तुम फुसलाओ' ।।
'मैया, मैं तो सच कहता हूँ, तुम विश्वास नहीं करतीं।
मुखमें देख विश्व ही सारा, एक नहीं अगणित धरती' ।।७४।।

दूध पचानेकी शङ्कापर दृश्य जँभाईमें आया।
उससे भी अत्यन्त विलक्षण आज श्यामने दिखलाया ।।
पता नहीं, कैसे छोटे मुख अगणित विश्व समा पाये।
मानो लघु वटवृक्ष शीघ्र ही तरु विशाल बन उग जाये ।।७५।।

उठीं अभी शङ्काएँ जो थीं पहले माताके मनमें ।
शङ्काओंका समाधान यह तुरत हुआ मानो क्षणमें ॥
अति विस्मित हो रहीं देखती, पता नहीं, क्या-क्या देखा ।
हो अभिभूत योगमायासे कर न सकीं उनका लेखा ॥७६॥

क्या सुर कोई दिव्य गुणोंसे युक्त रूपमें इस आया ।
या मायापति प्रकट धरापर, कोटि विश्व जिसकी माया ॥
पर मायावश शीघ्र यशोदा इन बातोंको भूल गई ।
वत्सलताकी मूर्ति लालको उठा गोदमें मग्न हुई ॥७७॥

निज सुतका ऐश्वर्य भूलकर प्राकृत बालक ही माना ।
दिव्य दृष्टि देकर उसपर फिर मायाने पर्दा ताना ॥
देख गोपियोंके मुख, सुनकर कृष्णचन्द्रकी लीलायें ।
पुलकित व्रज समस्त, कहना क्या नन्द-यशोदा, सब आये ॥७८॥

गोपीजन-मुख-निसृत कृष्णकी प्रेममयी लीलाका ध्यान ।
करती हुई यशोदा मानो भूल बैठती बाहर-ज्ञान ॥
माखन-चोरी-दृश्य देखनेकी इच्छा मनमें आयी ।
पड़े गोदमें कृष्णचन्द्र, मुख देख यशोदा मुसकायी ॥७९॥

एक बार बैठी माता थी कृष्ण-ध्यानमें लगी हुई ।
मानो मूर्तिमयी सुशान्ति हो कृष्ण-प्रेम-रस पगी हुई ॥
खुला ध्यान, तब लगी काममें, दधि-मन्थनमें चित्त दिया ।
मन्थनजनित मधुर झंकृति सह गुन-गुन सुत-गुण-गान किया ॥८०॥

तुरत कन्हैयाने आ करके, पकड़ मथानी ली हँसकर ।
'मुझे करा स्तनपान प्रथम माँ, भूख लगी, मन्थन बस कर' ॥
दृढ़तापूर्वक बैठ अङ्कमें दुग्ध पानकर मुसकाते ।
वह आनन्द नन्द-पत्नीका ब्रह्मज्ञान-रत जन पाते ? ॥८१॥

दूर उबलते हुए दुग्धमें जब देखा उफान आते।
छोड़ चली सुतको अतृप्त ही, चैन कन्हैया क्यों पाते ?
रूठे श्याम, समीप रखा था, दधि-भाँडेको फोड़ दिया।
रखी मथानी जो समीप थी, उसे पकड़कर तोड़ दिया ॥८२॥

कर उफानको शान्त, लौट, माताने सब कुछ देख लिया।
लल्लेकी करतूत जानकर मनमें थोड़ा रोष किया ॥
छड़ी हाथमें लेकर दौड़ी, डरकर भाग चले घनश्याम।
पाठक लखें प्रेमका नाता, विभुका और भक्तका काम ॥८३॥

पीन-शरीर मनोहर माँके कटि-नितम्ब हिलते जाते।
चोटीमें गूँथे प्रसून थे झड़-झड़कर गिरते जाते ॥
पकड़ नहीं पा सकी, कन्हैया थोड़े ही चलते आगे।
पर दोनोंके बीच सूक्ष्म दृढ़ बँधे प्रेमके थे धागे ॥८४॥

श्रान्त-क्लान्त देखा माताको, तब तो पकड़ गये बलधाम।
छड़ी हाथमें जभी देख ली, तभी लगे रोने घनश्याम ॥
गालोंपर काजलकी स्याही फैली आँसूसे धुलकर।
आँखोंको मलनेके कारण स्याही फैली हाथोंपर ॥८५॥

'मैंने है अपराध किया, अब, मैया ! मुझको क्षमा करो।
नटखट हूँ, पर बेटा तेरा, भूलोंपर मत ध्यान धरो' ॥
'अच्छा, छड़ी फेंक देती हूँ, दण्ड तुम्हें दूँगी निश्चय।
बाँध तुम्हें ऊखलमें दूँगी, काम करूँगी तब निर्भय' ॥८६॥

रस्सी लाकर लगी बाँधने, वह थी दो अंगुल छोटी।
रस्सी नयी मिलानेपर भी वह तो छोटी-की-छोटी ॥
इसी तरह रस्सीपर रस्सी जोड़-जोड़कर वह लाती।
दो अंगुल छोटी होनेसे बाँध, भला, कैसे पाती ॥८७॥

यह कौतूहल देख गोपियाँ हँसने लगीं चकित होकर ।
हँसने लगीं यशोदा मैया, भूपर बैठ, थकित होकर ॥
लगे कन्हैया भी मुसकाने, जब बोली माँ सुकुमारी–
'अरी, पसीनेसे लथपथ हूँ, मैं तो बेटेसे हारी' ॥८८॥

तब बाँधा अन्तिम प्रयासमें, लगा गोपियोंका नारा ।
कहा कृष्णने, 'विजय तुम्हारी, माता ! मैं तुमसे हारा' ॥
यही हारमें जीत, जीतमें हार प्रेमका है बाना ।
यह अद्भुत सुरहस्य प्रेमका कृष्ण-यशोदाने जाना ॥८९॥

'इसी तरह ऊखलसे बँधकर रहो, कन्हैया ! तुम कुछ देर' ।
माता बोली; कहा कृष्णने हँसकर, 'यही समझका फेर ॥
मैं उन्मुक्त सदा, बन्धनसे रहित, बाँध सकता है कौन ?
ये रहस्यकी सारी बातें, यहाँ वेद भी रहते मौन ॥९०॥

'माता ! तू रहस्यमय निज जन, मैं रहस्यमय सुत तेरा ।
यह रहस्यमय बहुत पुराना नाता है तेरा-मेरा' ॥
यह रहस्यकी बात कृष्णने मातासे पर नहीं कही ।
किंतु यशोदा 'क्या रहस्य है ?' इस विचारमें पड़ी रही ॥९१॥

इस रहस्यको त्रिकालज्ञ ऋषियोंने पहले ही जाना ।
यह सौभाग्य नन्दपत्नीको और नन्दको था पाना ॥
पूर्वकालमें नन्द एक वसु 'द्रोण' नामसे थे विख्यात ।
वहाँ यशोदा 'धरा' नामसे उनकी पत्नी थी प्रख्यात ॥९२॥

कठिन तपस्यासे दोनोंने अजका आसन दिया हिला ।
बालकृष्ण-वात्सल्य-प्रेमका ब्रह्मासे वरदान मिला ॥
उसी दिवससे परम ब्रह्मने यह सम्बन्ध किया स्वीकार ।
यह रहस्य-संकेत, यशोदा जिसपर थीं कर रही विचार ॥९३॥

जातिस्मरता जननीको थी अभी कृष्णने की न प्रदान ।
ईशभाव वात्सल्यभावको, भय था यह, ले कहीं दबा न ॥
माता गृहके कामोंमें जा उधर लगी, तबतक घनश्याम ।
चले वहाँसे, यमलार्जुनको देना था अनन्त विश्राम ॥६४॥

व्रजमें अर्जुन-वृक्ष युग्म थे नन्द-भवनके पास खड़े ।
उद्धारककी चिरकालीन प्रतीक्षामें थे वहाँ पड़े ॥
पाठक ! इनके पूर्वजन्मका कुछ वृत्तान्त यहाँ जानें ।
'हरिभक्तोंका शाप अनुग्रह ही होता है' यह मानें ॥६५॥

नलकूबर-मणिग्रीव पुत्र दो थे कुबेरके अति सुन्दर ।
श्रीमदसे अति मत्त देवगण-मान्य रुद्रके थे अनुचर ॥
परम रम्य कैलासचुम्बिनी मन्दाकिनी कूल उपवन ।
लगा वारुणी-पान, अप्सरा सह विहारमें थे तन-मन ॥६६॥

नग्न अप्सराओंको लेकर जल-क्रीड़ामें हो अनुरक्त ।
ये हरिभक्त कुबेर-पुत्र होकर भी थे अति विषयासक्त ॥
इसी बीच देवर्षि-आगमन-श्रवण-जनित भयके कारण ।
तुरत अप्सराओंने बाहर आकर किया वस्त्र-धारण ॥६७॥

पर वारुणी-नशेमें दोनों चूर, उन्हें चिन्ता कैसी ?
होता जैसा भाग्य, बुद्धि भी हो ही जाती है वैसी ॥
देखा दोनोंने नारदको, तदपि न कुछ भी ध्यान दिया ।
सभी मदोंसे भारी मदने था उनको बेहाल किया ॥६८॥

तरुवत् सम्मुख नग्न खड़े थे, पता नहीं—जड या चेतन ।
देखा नारदने विचित्र यह धनद-सुतोंका घोर पतन ॥
ऋषिका यह अपमान घोर था, मर्यादाका उल्लङ्घन ।
क्या कदापि यह दोष क्षम्य था—यह जघन्य उन्मार्गगमन ? ॥६९॥

"वृक्षयोनिमें यमलार्जुन बन व्रजमें तुम होगे उत्पन्न।
सगुणरूप हरि प्रकटित होंगे, होगे उनके शरणापन्न॥
इसकी सुस्मृति सदा रहेगी वृक्षयोनिमें भी, लो जान।
कृष्णचन्द्र उद्धार करेंगे, शाप-सहित देता वरदान" ॥१००॥

नारद-भक्त-वचन पूरा हो, यमलार्जुनका हो उद्धार।
करने चला उलूखल-बन्धन वृक्षयोनिका उपसंहार॥
कार्यान्तरमें उधर यशोदा लगी, इधर देखो, भगवान।
ऊखल पटक, घसीट ले चले, दिया बँधी रस्सीको तान॥१०१॥

यमलार्जुन वृक्षोंको छूकर उभय-मध्यसे पार किया।
बस, ऊखलसे झटका देकर दोनोंका उद्धार किया॥
झटका लगते वे धड़ामसे गिरे धराशायी होकर।
मानो उभय दण्डवत् करते मुदित मेदिनीपर सोकर॥१०२॥

अति आश्चर्य दिव्य पुरुषोंका उन वृक्षोंसे आविर्भाव।
सुन्दर परम देववपु दोनों, प्रभुका कैसा अमित प्रभाव॥
नतमस्तक, बद्धाञ्जलि होकर खड़े कन्हैयाके सम्मुख।
सुस्मितास्य वह बँधा खिलाड़ी चकित देखता हो उन्मुख॥१०३॥

अति कृतज्ञतापूर्ण हृदयसे निस्सृत शान्त, मृदुल, मधुमय।
स्तवन-वचन गम्भीर उचारे, प्रभु-दर्शनसे हो निर्भय॥
"निराकार-साकार ब्रह्म अज निर्गुण-सगुण-स्वरूप महान।
अकथ अनादि अनन्त परात्पर शरणागतवत्सल भगवान॥१०४॥

"सृष्टि-स्थिति-प्रलयंकर तुम, हो एक, सच्चिदानन्द-स्वरूप।
भक्तहितार्थ धृतावतार तुम, सदा एकरस, दिव्य, अनूप॥
नारददत्त जडत्व शापकृत, चेतनमय अमरत्व प्रदान।
भक्त और प्रभुकी अहैतुकी कृपा-प्राप्त हम धन्य महान॥१०५॥

"अब माधव करुणा-निधान ! ऐसा दे दो वरदान हमें ।
गुणगान करे वाणी प्रभुके, कर-युग सेवामें रहें रमे ॥
नित कथा तुम्हारी सुनें हमारे श्रवण मुदित हो नित्य, प्रभो !
अनुगामी तेरे ही पथके ये चरण हमारे बनें, विभो ! ॥१०६॥

"रसना हरिकृष्ण रहे रटती, मम घ्राण दिव्य तनु-गन्ध गहे ।
हरिरूप भक्तजनके दर्शनमें नयन हमारे सदा लहें" ॥
नलकूबर-मणिग्रीव प्रणत हरि-अनुमोदित निजधाम गये ।
हो मन्त्रमुग्ध सब गोप-गोपियाँ देख रही थीं दृश्य नये ॥१०७॥

'माता ! क्या तुमने पहचाना—ये दो व्यक्ति यहाँ थे कौन ?'
'तुम चुप हो, भय मुझे सताता, गोप-गोपियाँ भी हैं मौन' ॥
"बन्धन-मुक्त मुझे कर, माता ! अङ्क लगा ले जी भरकर ।
मैं कृतज्ञ, उपकृतिकी चुकती कर दूँगा आगे चलकर ॥१०८॥

"सदा तुम्हारा ऋणी रहूँगा, यह विश्वास दिलाता हूँ ।
अन्ध-बधिर जग चक्षु-कर्ण निज खोले, मन्त्र बताता हूँ ॥
मैं स्वीकार सदा करता हूँ, सदा प्रेमका हूँ भूखा ।
प्रेमरहित चिकनी-चुपड़ी तज प्रेमसहित लेता रूखा ॥१०९॥

"माताके ऊखल-बन्धनमें जो आनन्द मुझे आया ।
सदा मुक्त होकर भी मैंने कभी नहीं ऐसा पाया ॥
तुम आनन्ददायिनी अम्बा ! परमानन्द बढ़ानेको ।
निज हाथोंसे बन्धन खोलो, निज अधिकार दिखानेको" ॥११०॥

मन्त्रमुग्ध-सी खड़ी यशोदा प्रेममुग्ध आगे बढ़कर ।
ऊखल-बन्धन खोल पुत्रको अङ्क लगाया जी भरकर ॥
अगर पारखी हों तो देखें इस समस्त जगके विद्वान ।
विद्यानिधिका बन्धन,अनपढ़ ग्वालिनकृत यह मुक्ति-प्रदान ॥१११॥

तुम धन्य ! सुनो, शुभे यशोदे ! सुतकी है तव शक्ति गूढ़ माया ।
जग ऊखल जीव बाँधती जो, वद निस्तार-उपाय क्या करें वे ॥११२॥

तुम बोल रहीं दुलार-भाषा, तव है बालकका रहस्य भारी ।
इसकी अगमा विचित्र माया, अति दुर्दान्त दुरत्यया प्रसिद्धा॥११३॥

जबलौं दृढ़ प्रेम-रज्जुमें जगका जीव न बाँध ले इसे ।
तबलौं यह शक्ति-नर्त्तकी, अपने साथ नचायगी उसे ॥११४॥

यह भेद रहस्यका खुला, पकड़ो, जीव ! पदाब्ज कृष्णके ।
मन-ऊखल बाँध लो उन्हें दृढ़तासे मृदु प्रेम-रज्जुसे ॥११५॥

———

चतुर्थ सर्ग

व्रजेन्द्र-भ्राता उपनन्द थे बड़े
सुधी, वयोवृद्ध, विचारकाग्रणी।
सदा जिन्हें गोकुल-गोप-मण्डली
विलोकती आदरणीय-दृष्टिसे ॥ १ ॥

आयोजिता एक सभा हुई वहाँ,
प्रधान थे वे उपनन्द ही जहाँ।
विचारणीया विषमा दशा वही,
उपस्थिता गोकुल मध्य आज जो ॥ २ ॥

'अहो महाभाग्य! शिशुघ्न पूतना
स्वपापसे मृत्यु-मुखागता हुई।
बचा कन्हैया शकट-प्रहारसे,
पुनः तृणावर्त-विपत्तिसे बचा ॥ ३ ॥

टली पुनः अर्जुन-वृक्ष-पातसे
उपस्थिता जो महती विपत्ति थी।
यही दशा है, सब मन्त्रणा करें—
सभासदोंसे कहना मुझे यही' ॥ ४ ॥

सुनी सभीने यह उक्ति नन्दकी,
विचारमें मग्न सभी हुए वहाँ।
विचारणानन्तर घोषणा हुई
प्रधानद्वारा यह निर्णयात्मिका ॥ ५ ॥

'चलें सभी, गोकुल-वास छोड़ दें,
अरक्षित स्थान निवास त्याज्य है।
सुरम्य वृन्दावन-वास इष्ट है,
जहाँ सभी इच्छित वस्तु लभ्य है ॥ ६ ॥

'जहाँ सुरम्या तृण-धान्य-संकुला
धरा सदा गोचर-भूमि-संयुता।
यम-स्वसा है असिताम्बु-धारिणी,
पीयूषधारा निज पार्श्व-वर्त्तिनी ॥ ७ ॥

'जहाँ हमारी यमुना-तरंगिणी-
तटस्थ-वृक्षागत-वायुमें अहो!
मुदा रहेगी पुलिनोपवर्त्तिनी
विनोद-मग्ना नित बाल-मण्डली ॥ ८ ॥

'गिरीन्द्र गोवर्धनकी उपत्यका
तृणान्विता विस्तृत भूमि संयुता।
जहाँ हमारी नित धेनु-मण्डली
नितान्त निर्भीकमना चरे सदा' ॥ ९ ॥

व्रजेन्द्रने प्रस्थितिके लिये कहा,
व्रजाधिवासी अति हर्षमग्न थे ।
अलभ्य वृन्दावन-वास भाग्यसे
सुप्राप्य होगा, यह मान्यता हुई ॥१०॥

भरे हुए थे छकड़े बड़े-बड़े,
लदी सभी गोकुलकी विभूति थी ।
सुवस्त्रधारी व्रज-गोप-गोपियाँ
सधेनु-वत्सा गमनोन्मुखी हुईं ॥११॥

विराजिता गोकुल-भूमि-श्री अहो !
अशेष वृन्दावन-भूमि आगता ।
संवर्द्धिता आज सहस्रधा हुई
सुरम्य वृन्दावनकी सुरम्यता ॥१२॥

अशेष गोपाधिप-सङ्गमें जहाँ
समाज था आगत गोपवृन्दका ।
समृद्ध वृन्दावनकी वनस्थली
धनस्थलीमें परिवर्त्तिता हुई ॥१३॥

प्रशस्त वृन्दावन रम्यमें रहा
सुतृप्ति पाता चर गो-समूह था ।
प्रभातमें जा नित शाम लौटता,
सदा कन्हैया यह दृश्य देखते ॥१४॥

'प्रसिद्ध गोचारण-कार्य श्रेष्ठ है',
व्रजेन्द्रसे साग्रज कृष्णने कहा—
'हमें यही कार्य मिले'; व्रजेन्द्रने
उठा लगाया निज अङ्कसे उन्हें ॥१५॥

'दुस्साध्य छोटा यह कर्म है कहाँ,
कहाँ तुम्हारी सुकुमार देह है।
न कार्य ऐसा युवराज-योग्य है,
न चाहता हूँ, यह काम दूँ तुम्हें' ॥१६॥

'न कर्म छोटा अथवा बड़ा कभी,
स्वकर्मका पालन श्रेय-हेतु है।
सुना सदा आगत पण्डितोक्तिको,
कहा यही कर्म-रहस्य है गया' ॥१७॥

अकाट्य सिद्धान्त बता व्रजेन्द्रको
बना दिया मौन, न बोल वे सके।
स्वपुत्र-व्यक्तित्व समक्ष वे झुके,
नहीं अवस्था, गुण पूज्य हैं सदा ॥१८॥

बने कन्हैया-बलराम अग्रणी
समस्त गोचारक बालवृन्दके।
ले वत्स-टोली वनको प्रभातमें
प्रयाण होगा, व्रज मग्न मोदमें ॥१९॥

सुवर्ण पीताम्बर श्याम अङ्गमें,
यथा सुनीले घन बीच दामिनी।
सजा हुआ था शिखिपिच्छ केशमें,
लिये हुए थे मुरली तथा छड़ी ॥२०॥

सुरम्य नीलाम्बरसे ढका हुआ
शरीर संकर्षणका सुगौर था।
सुलक्ष्य आच्छादित नील-मेघसे
यथा सुवर्णाभ सुमेरु-खण्ड हो ॥२१॥

प्रभात गोचारण हेतु आज वे
अनन्त सौन्दर्य-निधान जा रहे।
कुमार दो बालक नन्द-गेहसे
अमूल्य दोनों व्रजकी विभूतियाँ ॥२२॥

श्वेतासिता, रक्तप्रभा, सुवर्ण-सी
अशेष गायें, समलंकृता सभी।
संचालिता थीं निज यूथपालसे,
कुमार थे यूथप-अग्रणी बने ॥२३॥

गये विहारी वन ही, सभी हुई,
व्रजेशकी रूप-सुधार्थिनी बनी।
कहीं प्रतीक्षा-रत द्वारसे लगीं,
कहीं किनारे पथके व्रजाङ्गना ॥२४॥

'प्रभातमें दर्शन कृष्ण दें हमें',
यही मनाते, बस, रात बीतती।
दिवा मनातीं 'झट सूर्य अस्त हों,
उन्हें बिठाऊँ निज चक्षु-मार्गमें' ॥२५॥

विमुक्त हैं पूछ रहे कि 'गोपियो!
अनन्य जो चिन्तन मूल्य दे रहीं।
अरी! बनोगी तुम प्रेमयोगिनी
निजस्वदात्री अथवा भिखारिणी?' ॥२६॥

'अनन्यचित्ता हम प्रेमयोगिनी
निजस्वदात्री बनती भिखारिणी।
यही ध्रुवा पद्धति प्रेममार्गकी,
विमुक्त हो, किंतु न जानते इसे' ॥२७॥

अहो ! चलें, पाठक ! दृश्य देख लें—
जगन्नियन्ता अब वत्सपाल हैं ।
बने हुए नायक बालवृन्दके
चरा रहे साग्रज वत्सवृन्दको ॥२८॥

अशेष गोचारक-वृन्द-मध्यमें
सनृत्य वंशीरव कृष्णका सुनें ।
सनृत्य गोचारक ताल दे रहे,
विमुग्ध कृष्णाग्रज-नायकत्वमें ॥२९॥

अहो ! कृतार्था व्रजधेनुमण्डली
विमुग्धभावा सब त्यक्तचर्वणा ।
उत्कर्णनेत्रा सुनतीं, विलोकती,
विभोर-सी हो जगदीश-नृत्यसे ॥३०॥

अहो ! विलोकें, तरु-पक्षिवृन्द भी
विचित्र वंशी-रव-मुग्ध हो रहे ।
कृतार्थ मानो जड़वत् लगे हुए
प्रतीत होते विटपाङ्ग-बीचमें ॥३१॥

लोकेश-माया महती सुनर्तकी
समस्त भूमण्डलको नचा रही ।
सहर्ष मायापति नाच है रहा
जहाँ, अरी गोचर-भूमि ! धन्य तू ॥३२॥

विनोदमें साँड बने प्रवृत्त हैं,
अनेक गोवत्सप युद्धमें वहाँ ।
जिन्हें कन्हैया-बलराम देख लें,
छुड़ा रहे हैं लगुड-प्रहारसे ॥३३॥

वही पुनः दण्डप्रहार पा रहे
विनोदमें वे बलराम-श्याम भी।
दिखा रहे हैं इस मर्त्यलोकमें
अहो! सखा-भक्त-जनाधिकारको ॥३४॥

कभी मिचौनी तरु-ओट खेलते,
कभी कबड्डी जमती सुहावनी।
कहीं करें बालक दण्ड-बैठकी,
कहीं मचीं बालकवृन्द-कुश्तियाँ ॥३५॥

तुरङ्ग-गो-गर्दभ-सिंह-व्याघ्रके,
शृगालके, वानरके, मृगादिके।
मयूरके, कोकिल-कुक्कुटादिके
बनावटी बालक बोल बोलते ॥३६॥

कभी-कभी बालक बैल दो बने,
तृतीय जो है छकड़ा बना हुआ।
तृतीय-पृष्ठस्थ हुए चतुर्थको
बने हुए बालक बैल खींचते ॥३७॥

जिसे स्वपृष्ठोपरि श्याम खींचते,
अंसस्थ हों वे जिस मित्रके स्वयं।
मुरारि वा बैल बने जिसे मिलें,
वही, वही बालक धन्य-धन्य है ॥३८॥

कभी-कभी भोजन दृश्य देखते—
लुटा रहे हैं नवनीत-रोटियाँ।
कमी नहीं, नन्दकुमार आप हैं!
यही नहीं, आप उदार अग्रणी ॥३९॥

स्वयं बचा आँख टटोल हैं रहे
सखा-जनोंकी प्रिय कृष्ण झोलियाँ।
'सखा ! चुरा लूँ, अथवा बलात्, कहो,
सुस्वादु खाऊँ सब रोटियाँ, अहो ! ॥४०॥

'सुस्वादु कैसी सब रोटियाँ मिलीं !
मुझे मिला स्वाद अवर्णनीय है।
बची हुई हैं अब रोटियाँ यहाँ--
सँभाल देखो, कम तो नहीं हुईं ?' ॥४१॥

'सर्वस्व कृष्णार्पणमस्तु' भाव था,
कृतार्थ गोवत्सप वृन्द हो गया।
सुधाभिषिक्ता हरि-हस्त-पद्मसे
न रोटियाँ, केवल रोटियाँ रहीं ॥४२॥

लगी वहाँ हैं यमुनोपकूलमें
जलार्थ गोवत्सप-वृन्द-पंक्तियाँ।
लखें, वहाँ साग्रज कृष्ण-सङ्गमें
सुधाम्बु वे भोजन बाद पी रहे ॥४३॥

यों बीच क्रीडाशनके, विनोदके
रहे चरा माधव वत्सवृन्दको।
अनेकशः आपद-विघ्न बीचमें
हुए, टले; कृष्ण-कृपा प्रधान थी ॥४४॥

बना हुआ मायिक वत्स, कंससे
किया हुआ प्रेषित यूथमें मिला।
जिघांसु वत्सासुर कृष्णको, अहो !
विचित्र ही है विधिकी विडम्बना ॥४५॥

नितान्त अल्पज्ञ मुरारि था कहाँ,
नितान्त सर्वज्ञ मुरारि थे कहाँ ?
सपुच्छ टाँगें पिछली चपेटके,
उठा धरामें पटका धड़ामसे ॥४६॥

'हा ! हा !! कन्हैया, यह वत्स-ताड़ना ?
पता नहीं, बुद्धि विनष्ट क्यों हुई ?'
हँसे कन्हैया, 'यह बुद्धिनाश है,
तुम्हीं कहोगे अथवा प्रगल्भता ?' ॥४७॥

घृणार्ह वत्सासुरने दिखा दिया
महा-भयोत्पादक रूप अन्तमें।
सातङ्क गोवत्सप दौड़ने लगे,
हँसे कन्हैया यह दृश्य देखके ॥४८॥

वृत्तान्त वत्सासुर-मृत्युका जभी
सुना, महा दुःखित दुष्ट कंससे।
नियुक्त था कृष्ण-वधार्थ शीघ्र ही
बकाख्य जो दानव कंसका सखा ॥४६॥

पिपासु गोवत्सप-वृन्द प्यासको
बुझा नदीसे जब लौटने लगे।
तटस्थ देखा यमुना पयस्विनी
अकल्प्य भारी बक अद्भुताकृति ॥५०॥

'बना कन्हैया बक-कौर हाय रे !'
गतायु मानो सब ग्वालबाल थे।
असह्य ज्वाला बक-कण्ठमें उठी,
अधीरतासे उगला मुरारिको ॥५१॥

लगा उन्हें जो अब चोंच मारने,
हुआ अभी श्याम-शरीर वज्र-सा।
हुए सभी निष्फल चञ्चु-घात भी,
शिलाप्रहारी शर टूटता स्वयं ॥५२॥

जरा उभारा बक-चञ्चु-युग्मको,
विदीर्ण सारा बक-चञ्चु हो गया।
विदीर्ण तो देह समस्त ही हुई,
यही नतीजा बलवद्-विरोधका ॥५३॥

बकाख्य था दानव पूतनाग्रज
स्वभावसे ही अति घोर-कृत्य था।
प्रसून-वर्षा निघ्नोपलक्षमें
प्रसन्न हो-हो करते शचीश हैं ॥५४॥

अघाख्य था जो वह पूतनाग्रज
स्वभावसे उग्र सुरारि-लोकमें।
अतीव दुर्दान्त, जघन्य कर्मसे,
सुकृत्यघाती अघ मूर्तिमान ज्यों ॥५५॥

श्रीकृष्णद्वारा हत अग्रजा हुई,
हुआ पुनः अग्रज-मृत्यु-हेतु भी—
यही, अरे! दारुण शत्रु कंसका,
उठी हृदयमें प्रतिकार-भावना ॥५६॥

सधूम क्रोधानल आज दुष्टका
प्रवृद्ध कंसानिल-वेगसे हुआ।
बना हुआ था अहि मूर्तिमान ज्यों,
सुदूर वृन्दावनमें उठा अभी ॥५७॥

विशाल था योजन-विस्तृताकृति
उरंग है या गिरिकी गुहा कहें।
इसे कहें जीवित वस्तु, या कहें–
विचित्र ही यह जड वस्तु एक है ॥५८॥

विचित्र ही है मुख तो खुला हुआ,
सर्पास्य है या गिरि-कन्दरा कहें।
कुतूहलोत्पादक जीवहीन है,
सजीव या दानवकी प्रवञ्चना ॥५९॥

विचित्र आँखें यह बोल हैं रही,
'सजीव अप्राकृत काल नाग है।'
'निर्जीव है' निश्चलता बता रही,
'विशाल कोई गिरिकी गुहा यहाँ' ॥६०॥

हुए पदाघात, प्रहार भी हुए,
तथापि वह निश्चल ही बना रहा।
लगा हुआ था अघ घातमें इसी,
मुरारि आयें, मुख मूँद लूँ तभी ॥६१॥

विचित्र कोई गिरि-कन्दरा उसे
प्रतीत गोवत्सप-वृन्दने किया।
प्रवेशकी उत्सुकता हुई उन्हें,
हुई न बाधा, घुसने लगे सभी ॥६२॥

समस्त गो-वत्स तथा सखा सभी
प्रविष्ट निश्चेष्ट अघास्यमें हुए।
खुला हुआ था, झट बंद हो गया,
घुसे कन्हैया जब अन्तमें वहाँ ॥६३॥

सवत्स गोवत्सप-वृन्द थे पड़े
　　　　हुए मरे-से असुरोदरस्थ हो।
मुकुन्दकी किंतु कृपा महीयसी—
　　　　बचे सभी, रक्षक ईश थे स्वयं ॥६४॥

गलस्थ विस्तीर्ण शरीरको किया
　　　　अनन्त योगेश्वर कृष्णने जभी।
फटा गला, दानव-मृत्यु-दृश्य था,
　　　　बहिर्गता थीं सब प्राण-शक्तियाँ ॥६५॥

सायुज्य दी मुक्ति मुकुन्दने उसे,
　　　　तनुस्सृता ज्योति मुकुन्दमें मिली।
गीर्वाण-ब्रह्मा गगनस्थ देखते,
　　　　गिरा रहे हैं कुसुमोपहार वे ॥६६॥

अघासुरोद्धार मुकुन्दने किया,
　　　　व्यतीत मध्याह्न, बुभुक्षिता हुई—
सकृष्ण गोवत्सप-मण्डली जुटी
　　　　सवत्सवृन्दा यमुनोपकूलमें ॥६७॥

कलिन्दजाका जल वत्स-वृन्द पी
　　　　स्वतन्त्रतासे चरने लगा पुनः।
मुरारिके सम्मुख ग्वाल-वृन्दकी
　　　　यहाँ लगीं भोजन-हेतु पंक्तियाँ ॥६८॥

कृतज्ञतापूर्ण विनोद-हास्यमें
　　　　विलम्ब जो भोजनमें हुआ उन्हें।
उन्हें हुई विस्मृत वत्स-मण्डली,
　　　　सुदूर जो ओझल आँखसे हुई ॥६९॥

'अरे ! कहाँ वत्स गये सभी, भला,
मुरारि ! बोलो' सब ग्वाल खिन्न थे ।
'रुको, उन्हें हूँ झट ढूँढ़ ला रहा',
मुरारि बोले, तब सान्त्वना मिली ॥७०॥

लिये दही-ओदन-ग्रास हाथमें
उन्हें कन्हैया झट ढूँढ़ने चले ।
है खोज लाने बछड़े चला वही
भक्तार्थ, देखो ! जग ढूँढ़ता जिसे ॥७१॥

विचित्र लीला अज देखते रहे,
नभस्थ थे, भूतल आ गये स्वयं ।
छिपा दिया था सब वत्स-वृन्दको,
पड़े गुहामें सब मोह-नींदमें ॥७२॥

यहाँ गुहामें अजने सुला दिये
अशेष गोवत्सप मोह-नींदमें ।
विचित्र माया यह वैष्णवी हुई,
स्वयं विधाता इस मोहमें पड़े ॥७३॥

'दही-मिला ओदन-ग्रास हाथ ले
अनन्त ये भूतल घूम हैं रहे ।
असत्य, विश्वास न हो रहा मुझे,
करूँ परीक्षा', अज सोचने लगे ॥७४॥

अदृश्य गोवत्सप, वत्स-वृन्द थे,
विचित्र माया यह सृष्टिकारको—
अशेष मायापतिसे छिपी नहीं,
हँसे कन्हैया, 'अज बुद्धिहीन है' ॥७५॥

'अनेक जाऊँ बन एक मैं', यही
रमेश-संकल्प प्रपञ्च-बीज है।
गये स्वयं ही बन वत्स-वृन्द भी,
तथा सखा भी सब वासुदेव थे ॥७६॥

यथा तथा रूप, स्वभाव भी वही,
तथैव भूषा सब, वेष भी वही।
विचित्र लीला हरिने रची वहाँ,
अशेष गो-वत्सप वे स्वयं बने ॥७७॥

प्रभात जाना, फिर शाम लौटना—
चली तथा नित्यक्रिया यथैव थी।
व्यतीत संवत्सर एक हो गया,
रहस्य तो किंतु रहस्य ही रहा ॥७८॥

यथैव गोपीगण, गोप-वृन्दकी
रही सदा निश्चल प्रीति कृष्णमें।
रहस्य कैसा! निज बाल-वृन्दमें
वही हुई है निज वत्स-वृन्दमें ॥७९॥

रहस्य-ज्ञाता बलभद्र एक थे,
लखा उन्होंने जब ज्ञानदृष्टिसे।
नहीं वहाँ ग्वाल न वत्स-मण्डली,
सभी बने केवल एक कृष्ण थे ॥८०॥

चतुर्युगोंका फिरना सहस्रधा
विरञ्चिके वासर एक तुल्य है।
अतः वहाँ जो त्रुटि-काल बीतता,
वही धरामें सम एक वर्षके ॥८१॥

चले गये थे अज ब्रह्मलोकको,
पुनः वहाँसे त्रुटि बाद आ गये।
विचित्र ही वे भ्रममें पड़े यहाँ,
ठगा गया वञ्चक आज था स्वयं ॥८२॥

छिपा दिया था सब वत्स-ग्वालको,
यथा पड़े निद्रित वे, तथैव थे।
मिला वही बालक-वृन्द खेलता,
मिले उन्हें वे बछड़े सभी वहाँ ॥८३॥

'किन्हें कहें सत्य, असत्य कौन है ?
पता नहीं', हाय ! विचित्र थी दशा।
दही-मिला ओदन-ग्रास हाथ था,
पुनः कन्हैया हँसते उन्हें मिले ॥८४॥

आक्षिप्त था चित्त प्रपत्ति भावसे
विचित्र माया तब वैष्णवी हटी।
नहीं वहाँ ग्वाल, न वत्स-मण्डली
चतुर्भुजाकार समग्र रूप थे ॥८५॥

सुशङ्ख था शोभित एक हाथमें,
द्वितीयमें दिव्य सुगन्ध पद्म था।
तृतीय था भूषित दिव्य चक्रसे,
चतुर्थमें शोभित दिव्य थी गदा ॥८६॥

किरीट थे कुण्डल उत्तमाङ्गमें,
सुरत्नके थे मुकुटादि शोभते।
श्रीवत्स, श्री, कौस्तुभ, वैजयन्तिका-
सुदामसे शोभित-वक्ष थे सभी ॥८७॥

दही-मिला ओदन-ग्रास हाथ ले
अनन्त योगेश्वर विष्णुरूपमें।
दिये दिखायी जब, हंस छोड़के,
गिरे धरामें अज दण्डवत् तभी ॥८८॥

नितान्त ब्रह्मा अवरुद्ध-कण्ठ हो
अपार तेजोहत-चक्षु थे पड़े।
पदाम्बुजोंको पकड़े मुकुन्दके,
सलज्ज हर्षाम्बुधि-मग्न, धन्य वे ॥८९॥

'मदङ्ग हो, नाभिज पद्मयोनि हे!
उठो, न सोचो', अज-चक्षु यों खुले।
दही-मिला ओदन-ग्रास हाथ था,
खड़े कन्हैया मुख मुस्कुरा रहे ॥९०॥

घनी घटामें चपला हुई स्थिरा
समान पीले पटसे मुरारिके।
"विमुग्ध है विश्व, विमुग्ध मैं स्वयं,
क्षमा करो, नाथ! प्रणाम है तुम्हें ॥९१॥

"सुबद्धवंशी कटि-भाग एकमें,
द्वितीयमें है लकुटी बँधी हुई।
बँधा हुआ है यह शृङ्ग भी, अहो!
विमुग्धकर्त्ता यह गोपवेष है ॥९२॥

"लिये हुए ओदन देख हाथमें
हुआ मुझे था भ्रम चित्तमें महा।
चला तुम्हें था छलने, प्रभो! स्वयं
छला गया, दीन कृतघ्न जीव हूँ ॥९३॥

"सदा-सदा मैं इस सृष्टिका पिता,
इसी 'अहं' ने ग्रस बुद्धिको लिया।
कृतार्थ हूँ, नाथ ! मिटा दिया उसे—
नहीं, नहीं, ओदन-साथ खा गये ॥९४॥

"दुष्प्राप्य हो, दुर्धर हो, दुरूह हो,
अनन्त हो, निर्गुण ब्रह्मरूपमें।
दुर्भेद्य है ! दुर्गम ज्ञानमार्गमें
अनेक हैं विस्तृत विघ्न-घाटियाँ ॥९५॥

"निर्विघ्न तो केवल भक्तिमार्ग है,
प्रपत्तिरूपा तव भक्ति है प्रिया।
संसार-घोराम्बुधि-मध्य नाव है,
जहाँ बने केवट, नाथ ! हो स्वयं ॥९६॥

"अतः वही धन्य, वही सुपात्र है,
वही महात्मा, जगदेकवन्द्य है।
जिसे मिले भक्ति कृपामयी, विभो !
वही सुजन्मा, कृतकृत्य है वही ॥९७॥

"लीला-कथा, नाम सुबद्ध हों, प्रभो !
तवाङ्घ्रिमें इन्द्रिय-चित्त-वृत्तियाँ।
अपार संसार-समुद्र आप ही,
तदर्थं ही गोपद-तुल्य सूखता ॥९८॥

"हुआ महत्तत्त्व, ततः हुआ 'अहं',
ततः हुए षोडश हैं विकार ये।
तथैव तन्मात्रज पञ्चभूत भी
सहैव एकादश इन्द्रियाँ हुईं ॥९९॥

"ब्रह्माण्ड तो एक बना रहे, विभो !
मदीय देहस्थित तत्त्व एक ही।
अनेक ब्रह्माण्ड बनें-मिटें वहाँ
त्वदीय देहस्थित रोम-रोममें ॥१००॥

"तथापि, स्वामी ! यह बुद्धिमन्दता !
मचा दिया होड़ कुबुद्धि भृत्यने।
कहाँ असीमानल-तेज-पुञ्ज है,
कहाँ, प्रभो ! सोमित अग्निकी कणी ॥१०१॥

"क्षमा करो, नाथ ! महापराधसे
विदीर्ण वक्षःस्थल, हाय ! हो रहा।"
सुतप्त हृन्निर्गत अश्रुधारसे
सुसिक्त थे कृष्ण-पदाब्ज हो रहे ॥१०२॥

उठा लिया, अङ्क लगा लिया स्वयं,
क्षमा किया और विदा किया उन्हें।
सहर्ष ब्रह्मा निज धामको गये,
पुनः वही भोजन-दृश्य आ गया ॥१०३॥

दही-मिला ओदन-ग्रास हाथ है,
सवत्स हैं आगत कृष्ण देखते।
गोवत्सपोंकी अशन-क्रिया हुई
सहर्ष आमोद-प्रमोद-भावमें ॥१०४॥

अघासुरोद्धार-कथा नवीन-सी
कही सभीसे सब गोप-वृन्दने।
रहस्य तो किंतु रहस्य ही रहा,
अबोध्य मायापति-कृत्य नित्य है ॥१०५॥

रहस्यकर्त्ता यदि भेद खोल दे
स्वयं, तभी सम्भव बोधगम्यता ।
रहस्य-उद्घाटन विश्वमें पुनः
त्रिकालदर्शी ऋषि-वृन्दने किया ॥१०६॥

मायाका है ऐसा प्रभाव, ब्रह्मापर भी जो छा जाता ।
अपने सम्मुख ब्रह्माको भी छोटा-सा जन्तु बना जाता ॥
फिर हम क्षुद्रोंकी कौन कहे ? हम तो नगण्यसे भी नगण्य ।
ज्यों मृगाधीशकी तुलनामें हो कोई लघुतम जन्तु वन्य ॥१०७॥

जो मृगाधीशका भी स्वामी, उसके प्रपन्न हम हो जायें ।
यह सम्भव उसी समय, होकर निश्चिन्त शान्तिसे सो पायें ॥
अब क्षणभर कर विश्राम, लेखनी ! फिर तो है आगे चलना ।
अपने प्यारे श्रीकृष्णचन्द्रका तुमको है पीछा करना ॥१०८॥

जो वृन्दावनमें गो-स्वामी बन, वन-वन है फिरता रहता ।
जल-थलमें, नभमें, कण-कणमें वह व्याप्त सदा झाँका करता ॥
हैं विषय-वनोंमें भटक रहीं मेरी गोगण, मैं तेरा जन ।
हे वृन्दावनके गो-स्वामी ! तू मेरा भी गो स्वामी बन ॥१०९॥

पञ्चम सर्ग

पौगण्ड-प्राप्त छविधाम मुकुन्दने की
शेषांश-सङ्ग मुरलीध्वनि आज कैसी !
वृन्दावनस्थ फल-फूल-लदे झुके हैं,
मानो प्रणाम करते तरु पल्लवोंसे ॥ १ ॥

देखो, छलाँग भरते मृग आज कैसे !
नृत्यक्रियारत शिखी, खग-वृन्द गाते ।
मानो मुकुन्द बलभद्र-समेत आये
गोपाल धेनु-गण-स्वागतमें लगे हों ॥ २ ॥

रम्यातिरम्य अमृताम्बु सरोवरोंकी
शोभा अपूर्व शतशः परिवर्द्धिता थी ।
गुञ्जायमान कमलोपरि षट्पदोंने
शेषांश-गोप हरि-वन्दन-गीत गाये ॥ ३ ॥

'देखो, सुपक्व फल भार लिये खड़े हैं
वृन्दावनस्थ तरु सुन्दर तालके वे ।
आवाहनार्थ हरिके निज गन्धको ही
मानो नियुक्तकर दूत पठा रहे हों ॥ ४ ॥

'भैया मुकुन्द ! बलभद्र ! सुगन्धद्वारा,
देखो, सुताल वन-वृक्ष बुला रहे हैं ।
हा ! हा !! परंतु हरिताभ वनस्थलीमें
साम्राज्य घोर खल धेनुक दैत्यका है' ॥ ५ ॥

श्रीराम-कृष्ण निज मित्र-जनाभिलाषा-
तृप्त्यर्थ प्रार्थित समित्र वहाँ पधारे।
कान्तार-मध्य खररूप जहाँ बसा था
दैत्याग्रगण्य खल धेनुक कंस-प्यारा ॥ ६ ॥

अग्रस्थ ताल-तरुको बलभद्रने ज्यों
धक्का दिया, फल गिरे, बिखरे धरामें।
क्रोधाभिभूत खलने पिछले खुरोंसे
मारा उन्हें कुपित हो, बलभद्र चौंके ॥ ७ ॥

दोनों उठा असुर-पाद उसे घुमाया,
निष्प्राण ताल-तरु-चूर्णित देह, देखो!
ऐसी दशा तब हुई सब दानवोंकी,
जो थे सहायक वहाँ खररूपधारी ॥ ८ ॥

'आनन्द-कंद बलराम-मुकुन्दने की
ऐसी कृपा' अमर-वृन्द कृतज्ञ जो थे।
होने लगी सुमन-वृष्टि विमानद्वारा,
वे हैं नभस्थ सुर दुंदुभियाँ बजाते ॥ ९ ॥

लौटे मुकुन्द बलराम-सुकीर्ति गाते,
पीछे सधेनु व्रजमण्डल-गोप आते।
दूरस्थ धूलि जब उत्थित गोपियोंने
देखी, जुटीं सब यहाँ व्रज-वीथियोंमें ॥१०॥

गोपी-विशुद्ध हिय-उत्थित प्रेम-वल्ली
प्रातः-दिनान्त हरि-दर्शन-सिक्त होती।
देखो, अबाध पल-पल परिवर्धमाना
कृष्णाश्रिता वह सदैव समुन्नता थी ॥११॥

कैसी विचित्र मनकी स्थिति गोपियोंकी—
चाञ्चल्य है निज स्वभाव, उसे भुलाया।
अत्यन्त ही विमल हो स्थिर कृष्णमें है,
कृष्णाभ्रमें तड़ित शुभ्र विलीन हो ज्यों ॥१२॥

वात्सल्यपूर्णहृदया वह माँ यशोदा,
वात्सल्य-भाव-प्रमुखा वह रोहिणी भी,
दोनों सदैव बलराम-मुरारि-सेवा-
भावान्विता सतत थीं करती प्रतीक्षा ॥१३॥

व्यक्तित्व आज बलराम-मुकुन्दका था
ऐसा प्रभाव रखता व्रज-मण्डलीमें।
नन्दादि गोप शरणागत हो रहे थे,
नक्षत्र-तारक यथा रवि-चन्द्रके हैं ॥१४॥

अत्युष्ण एक दह कालिय नागका था,
जो था विषाक्त करता यमुनाम्बुको भी।
आते समीप जलमें, थल-व्योममें वा
प्राणी अवश्य मरते, विषशक्ति ऐसी ॥१५॥

था यह प्रभाव विषका, जल खौलता था
उत्ताल फेनिल तरंग-समूह-धारी।
आवर्तयुक्त जलके कण एकका भी
जो स्पर्श प्राप्त करता, मरता वही था ॥१६॥

ग्रीष्मर्तुमें सदल आकुल प्याससे हो
आये, समीप ह्रद कालियका जहाँ था।
देखो, विषाक्त यमुना-जल-पानसे वे
हा! हन्त, हन्त! मृत ग्वाल सभी पड़े हैं ॥१७॥

चैतन्य-बीज प्रभुने जब दृष्टि डाली,
थे जो पड़े मृतक, जीवित हो उठे वे।
देखा विषण्ण अति दृश्य वहाँ सभीने,
कूदे विषाक्त जलमें जव वे कन्हैया ॥१८॥

निश्शङ्क देख प्रभुको जलमें पधारा
फूत्कार-युक्त फण कालियने उठाये।
क्रोधाग्नियुक्त विषदंश किये अनेकों,
आश्चर्य ! किंतु विषने गरलत्व खोया ॥१९॥

दुश्चेष्ट गर्वयुत कालियने लपेटा
श्रीकृष्णको कस दिया निज पूँछद्वारा।
'हा कृष्ण !' मूर्च्छित हुए व्रज-गोप सारे,
मूर्च्छान्विता सब हुई व्रज-गोपियाँ थीं ॥२०॥

देखी दयालु प्रभुने अति शोचनीया
ऐसी दशा निज विपत्तिकृता जनोंकी।
विस्तीर्ण देह प्रभुने सहसा किया यों,
सर्वाङ्ग ही फट रहे अब थे फणीके ॥२१॥

उन्मुक्तदेह प्रभु हो अहि-देहसे ज्यों
मारी छलाँग, अहि-मस्तक जा चढ़े वे।
अत्युग्र-भार प्रभुने अहिको दबाया,
नृत्यक्रियारत हुए, मुरली बजायी ॥२२॥

पाती प्रवेश मुरली-ध्वनि कर्णद्वारा,
प्रत्येक भक्तजन-मानसमें गयी ज्यों,
दुःखातिरेक-असहिष्णु पुनः जगी है,
देखो, प्रसुप्त अब चेतनता सभीकी ॥२३॥

देखा—प्रसन्नमुख नाच रहे हमारे
प्राणेश कालिय-फणोंपर हैं कन्हैया।
है शक्ति, पाठक ! नहीं इस लेखनीमें,
आनन्द भक्तजनका कुछ भी लिखे जो ॥२४॥

था व्यग्र, कृष्ण-पद-भार असह्य कैसा
आक्रान्त खिन्नवपु कालिय हो रहा था।
रक्त-प्रवाह चलता फण भग्नसे था,
देखो, फणान्तर पुनः खलने उठाया ॥२५॥

रक्त-प्रवाहमय था फण दूसरा भी
कृष्णाङ्घ्रि-भार-असहिष्णु, वही दशा थी।
एकाधिकैकशत मस्तक नागके थे,
धारा बही रुधिरकी सब मस्तकोंसे ॥२६॥

बोला विदीर्ण-वपु कालिय, 'धन्य हूँ मैं,
हे नाथ ! आज शरणागत हो रहा हूँ।
भग्नाङ्ग यद्यपि समस्त हुआ पड़ा हूँ,
मोहादि दोष सब भग्न हुए हमारे' ॥२७॥

आयीं झुकी पदसरोजरजःप्रपन्ना,
वे धन्य आज सब कालियपत्नियाँ थीं।
'हे नाथ, हे प्रणतपाल जनैकबन्धो !
हो अग्रगण्य शरणागत-वत्सलोंमें ॥२८॥

"ऐसी कृपा अतुल, नाथ, हुए हमारे
ये प्राणवल्लभ कृतार्थ तमोगुणी भी !
चाहें जिन्हें शिव-विरञ्चि सतोगुणी भी,
वे पाद मस्तक चढ़े इस नागके हैं ॥२९॥

"आदेश था रमणकाधिप नागका यों—
ताक्ष्यार्थ एक अहिकी बलि हो अमाको।
एवं विधान-विपरीत क्रिया-प्रदर्शी
उन्मत्त नाग अति कालिय हो गये थे ॥३०॥

"संत्रस्त घोर हरि-वाहन-कोप-भाजी
त्राणार्थ भाग यमुना-ह्रदमें घुसा जा।
वे ताक्ष्य भीत अति सौभरि-शापसे थे,
प्राणान्त है ध्रुव, इसी भयसे न आते ॥३१॥

"था वास पूर्व मुनि सौभरिका यहाँ, थे
निश्चिन्त मत्स्य ह्रदमें सुख-शान्ति पाते।
क्षुत्-क्लान्त थे, गरुड़ने कुछ मत्स्य खाये,
मत्सी सुदुःखित हुई पतिनाशसे थीं ॥३२॥

"स्वाभाविकी मृदुलता मुनिमें सदा थी,
हो क्रुद्ध शाप उनको मुनिने दिया यों—
'हे वैनतेय! तुमको यह शाप देता,
प्राणान्त जान ह्रदमें न कदापि आना' ॥३३॥

"था ज्ञात जो यह रहस्य, चले वहाँसे,
प्राणेश कालिय यहाँ ह्रदमें पधारे।
निश्चिन्त हो गरुड़से रहते यहाँ थे,
आदेश, नाथ! अब हो, करणीय क्या है?" ॥३४॥

निश्चिन्त हो प्रणत था वह नाग, देखो!
निश्चिन्त हो प्रणत थीं सब पत्नियाँ भी।
बोले स्वयं प्रणतपाल उदारचेता,
'जाओ, रहो रमणकाधिप-द्वीपमें ही ॥३५॥

'ये जो फणोंपर विराजित हैं तुम्हारे,
मत्पादचिह्न लख तार्क्ष्य न कष्ट देंगे।
कोई भुजंगम उसे न कभी डँसेगा,
मेरी कथा यह सुने अथवा सुनाये' ॥३६॥

निश्शङ्क हो रमणकाख्यक द्वीपमें ही
आया पुनः अहि लिये निज पत्नियोंको।
था जो विषाक्त ह्रद, आज सुधाम्बु, देखो!
थे जो विषण्ण जन, आज प्रसन्न हैं वे ॥३७॥

आये, मिले परम नेहभरे कन्हैया,
नन्दादि गोप जन थे, सब गोपियाँ थीं।
मानो द्वितीय यह जन्म उन्हें मिला हो,
आनन्दसिन्धु मन मग्न हुए सभीके ॥३८॥

दूरस्थ गेह, यह सोच वहीं बितायी
थी यामिनी परम रम्य वनस्थलीमें।
दावाग्निने ज्वलित किंतु निशीथमें हो
घेरा उन्हें, विवश थे, सब ओर देखा ॥३९॥

प्राणान्त तो अटल था, पर वे करें क्या?
'हे कृष्ण! आज शरणागत हैं तुम्हारे'।
दावाग्नि पीकर लगे हँसने कन्हैया,
था त्राण यह फलोदय भक्तिका ही ॥४०॥

देखो, महोत्सव रचे व्रजवासियोंने;
वृन्दावनस्थ सब गोप व्रजाङ्गनाएँ—
तादात्म्यभाव-अभिभूत मुकुन्द-लीला-
का नाट्य आज करतीं निज मन्दिरोंमें ॥४१॥

ऐसा महान उपकारक कृष्ण प्यारा
प्रत्येक गोप-जन-मानसमें बसा है।
देखो, वही थिरकता, मुरली बजाता
निर्बाध गोपवनिता-मन-मन्दिरोंमें ॥४२॥

श्रीकृष्णके परम आन्तर बन्धुओंसे
गोपाङ्गना-कृत सदा यह प्रश्न होता—
'श्रीकृष्णकी परम पावन प्रेम-लीला,
गोचारको! मधुर नित्य हमें सुनाओ' ॥४३॥

क्या-क्या कहें, अकथ प्रेम भरे कन्हैया-
के कृत्य अद्भुत रहस्य-भरे सभी हैं।
जो कर्म दुष्कर सुरासुरके लिये है,
होता वही सुकर बालक कृष्णद्वारा ॥४४॥

यों तो व्रजेश-सुत मानव रूपमें हैं
गोचारकोचित-गुणान्वित गौ चराते।
जैसी भरी चपलता सब बालकोंमें,
है एक अद्भुत रहस्यमयी वहाँ भी ॥४५॥

गम्भीरता चपलतावरणा सदा ही
संलक्षिता परम प्रेमिल कृष्णमें है।
यों तो मुकुन्द अति अल्पवयस्क ही हैं
वृद्धत्व-प्राप्त परिलक्षित हैं गुणोंसे ॥४६॥

होती कभी विहग-वृन्द-मृगादिकोंकी
वाणी प्रतिध्वनित कृष्ण-मुखाब्जसे है।
है शृङ्ग-यष्टि-मुरलीधर धेनुओंके
पीछे सखा-सहित हर्षित दौड़ता जो ॥४७॥

उत्तुङ्ग वृक्षपर जा चढ़ता कन्हैया,
ले रज्जु वाम करमें मनको लुभाता ।
झूला लगा, प्रिय सखा-गणको झुलाता,
है झूलता वह समोद सदा स्वयं भी ॥४८॥

ऐसी सदा व्रजजन-स्थविरोक्ति होतीं,
ऐसी कभी न कमनीय वनस्थली थी ।
जैसी मुकुन्द-बलभद्र-पदान्विता है,
ऐकाधिपत्य मधु-माधवका जहाँ है ॥४९॥

ग्रीष्मर्तु-पावस-शरद्-रमणीयताको,
हेमन्तकी, शिशिरकी कमनीयताको ।
मानो निजाङ्ग-परिधान लिये सदा ही
वृन्दाटवी-भ्रमणशील वसन्त प्यारा ॥५०॥

कल्हार-पुष्परज चूत-कदम्ब-वायु-
स्पर्शाभितृप्त मदमत्त जहाँ कहीं भी ।
श्रीकृष्ण-दर्शन-समुत्सुक झूमते हैं
भृङ्गादि पक्षिगण, जन्तु अरण्यवासी ॥५१॥

वृन्दाटवी सघन कुञ्ज-लतादिकोंमें,
जो राम-श्याम-सह आँखमिचौनियाँ हों
होवें पराजय, विजय अथवा—हमें तो
आनन्दवर्धक समान प्रतीत होते ॥५२॥

जो राम-श्याम-सह भोजन-केलियोंमें
वार्त्ता, पुनः मिलनमें सुख प्राप्त होता ।
जो ब्रह्म-प्राप्ति-सुख वाञ्छित ज्ञानियोंका
क्या कृष्ण-सङ्ग-सुखका लव मात्र होगा ? ॥५३॥

ऐसी अनेक बलराम-मुरारि-लीला-
गाथा-प्रभाव सुनती जब गोपियाँ थीं।
खोतीं स्वरूप निज अर्पित श्याममें हो,
वे मूर्त्तियाँ अखिल श्याममयी लखातीं ॥५४॥

आगे प्रलम्ब-वध, पाठक ! आ रहा है,
संहार है असुरका बलभद्र-लीला।
था धेनुचारक बना वह दैत्य लाया
प्रस्ताव कृष्ण-दलका बन जाय साथी ॥५५॥

थे ज्ञात कृष्ण बलवान, अतः वहाँ तो
आया प्रलम्ब बलदेव-जिघांसु ही था।
क्रीडार्थ वे बँट गये जब दो दलोंमें,
आया प्रलम्ब बलदेव-विपक्षमें ही ॥५६॥

था ज्ञात केवल रहस्य मुरारिको ही,
था ज्ञात अग्रज महाबलवान मेरे।
उद्धारका समय प्राप्त उसे हुआ था,
क्रीडार्थ सम्मति उसे तब कृष्णने दी ॥५७॥

ऐसा बना नियम था—उस खेलमें, जो
होंगे पराजित, उन्हें विजयी जनोंको
लीलार्थ वाहन बना रखना पड़ेगा,
जो स्थान निश्चित वहाँ पहले हुआ हो ॥५८॥

हारा प्रलम्ब विजयी बलभद्रको ले
आगे बढ़ा, त्वरित थी गति, उग्रकर्मा।
प्रारब्ध-प्राप्त वशमें निज कालके हो
स्वेच्छाभिशाप अपना वह ढो रहा था ॥५९॥

आकाश मार्ग गति ऊपर ओर थी जो
श्रीरामने चकित सम्भ्रमिताक्ष देखा।
जाना सुरारि-छलको सहसा उन्होंने,
सर्वज्ञ शेष भगवान, भला, न जानें? ॥६०॥

मस्तिष्क-घातक हुआ बलभद्रका जो
मुष्टि-प्रहार, उनका कर वज्रका था।
था इन्द्र-वज्रहत पर्वतकी शिला ज्यों
चूर्णोत्तमाङ्ग मृत दानव भूमिशायी ॥६१॥

काले शरीरपर हाटक-भूषणोंकी
थी शेषके छवि विचित्र प्रतीत होती।
मानो सविद्युत कहीं असिताभ्रमेंसे
राका-निशाकर-छटा परिलक्षिता हो ॥६२॥

भू छू रहीं विकृतरूप विशाल दाढ़ें,
रक्ताभ विस्तृत शिरोरुह-जाल फैले।
अग्नि-स्फुलिङ्ग झरते जिनसे सदा, वे
निष्प्राण नेत्र हतज्योति घुसे हुए हैं ॥६३॥

छाया प्रलम्ब-वधसे सुरलोकमें है
आनन्द, देव सब हर्षित देवियाँ भी।
हैं वे कृतज्ञ, अति प्रेमभरे करोंसे
श्रीराम-कृष्णपर पुष्प गिरा रहे हैं ॥६४॥

'भैया, प्रलम्ब-वधसे व्रजवासियोंकी
रक्षा हुई, हम कृतज्ञ सदा रहेंगे।
गोविन्दके चिर ऋणी हम ग्वाल जैसे
वैसे बने चिर ऋणी हम हैं तुम्हारे' ॥६५॥

ऐसे कृतज्ञ बलराम-मुकुन्दके हो
क्रीड़ानुरक्त सब बालक थे पुनः वे ।
भूली स्वतन्त्र चरती वनमें सभीकी
गायें अलक्षित हुईं, तब ध्यान टूटा ॥६६॥

मुञ्जाटवी सघन घोर सुदूरमें थी,
गायें फँसीं विपथ हो सबकी जहाँ जा ।
श्रीकृष्ण और बलराम-समेत दौड़े
अन्वेषणार्थ सब बालक खिन्नतासे ॥६७॥

ले-ले पुकार करते व्रज-धेनुओंकी
नामावली व्यथित हो सब ढूँढ़नेमें
थे व्यस्त बाल जब मुञ्ज समीप आये,
गायें पुकार सुनते सब दौड़ आयीं ॥६८॥

दावानल-ज्वलित किंतु चतुर्दिकोंमें,
संरुद्ध गोप सब ओर सवत्स गायें ।
'हा कृष्ण ! हाय बलदेव !! हमें बचाओ,
हैं दग्धजीवित हुताशनकी चितामें' ॥६९॥

बोले दयामय मुरारि सखा-जनोंसे—
"निश्चिन्त-निर्भय रहो सब मूँद आँखें ।"
योगेश्वरेश्वर जनार्दनने कृपा की
दावाग्नि-पान कर शान्त किया जनोंको ॥७०॥

'मुञ्जाटवी यह नहीं, हम तो यहाँ हैं
भाण्डीर नाम वटवृक्ष-समीप आये ।'
श्रीकृष्ण-योगबल-विस्मित बालकोंने
गायी सुकीर्ति प्रभुकी, निज गेह आये ॥७१॥

'श्रीकृष्ण और बलराम स्वतन्त्र कोई
दो शक्तियाँ प्रवल भूपर आ गयी हैं ।
हैं ईश वा प्रकट आज स्वयं धरामें—
ऐसी प्रतीति मनमें दृढ़ हो रही है ॥७२॥

'जो हो, मुकुन्द-बलराम सदा हमारे;
हैं क्षुद्र जीव हम, किंतु सदा उन्हींके ।'
उद्गार ये नर तथा व्रज-नारियोंके,
चर्चा परस्पर सभी करते सदा थे ॥७३॥

ग्रीष्मर्तु-तप्त धरणी व्यथिता हुई थी,
वर्षर्तुको प्रकृतिने इस हेतु भेजा ।
जो अष्ट मास रस-शोषक थे धराके,
वे ही सहस्रगुण भानु रस-प्रदाता ॥७४॥

आकाश-मण्डल विराजित सूर्य-कान्ति
प्रच्छन्न यद्यपि अशुभ्र पयोधरोंसे ।
किंतु प्रकाश-गुण नाश न हो सका है,
धीरत्व हो सुदृढ़ धीर विपन्नमें ज्यों ॥७५॥

कृष्णाङ्ग, बाष्प-जल-निर्मित-देहधारी
आकाशमें गरजते करते प्रतिज्ञा ।
है घोषणा यह पुनीत पयोधरोंकी—
'सर्वस्व-दान वसुधा-हित है हमारा' ॥७६॥

सर्वस्व-दान जगके हितके लिये जो
है त्याग उच्च स्वयमेव विलीन होना ।
मानो प्रसन्न हरि उत्तम कर्मसे हो
हो मेघवर्ण स्वयमेव पयोधिमें हैं ॥७७॥

जो ताप-शुष्क तृण लक्षित हो रहे थे,
वर्षाम्बु-सिञ्चित सुवर्धित हो रहे हैं।
आहारहीन विनिवर्तित-से लखाते
आहारसे विषय उत्थित हों पुनः ज्यों ॥७८॥

आच्छन्न तारक-निशाकर मेघसे हैं,
खद्योत-राज्य अब विस्तृत शून्यमें है।
ज्यों नागराज मृत हों, तब राज्यटीका
हा हन्त ! मस्तक चढ़ा महिनागके हो ॥७९॥

वर्षाम्बु-पान कर शुष्क जलाशयोंमें
हो पीन पीत अब दादुर बोलते हैं।
मानो सुपीत पट ओढ़ कृतज्ञतासे
तीरस्थ वे कर रहे स्तुति मेघकी हों ॥८०॥

जो वृष्टि उच्छ्रित स्थलोंपर हो रही है,
आती सभी सिमिट निम्न जलाशयोंमें।
उद्दण्ड पात्र-परिवर्जनशील पद्मा
आती सदा प्रणत सज्जन पास जैसे ॥८१॥

वृष्टि-प्रहार सहते नग धीर तैसे,
भारी विपत्ति सहते हरिभक्त जैसे।
है वृष्टि निष्फल अनुर्वर भूमिमें त्यों,
ज्ञानोपदेश सब निष्फल मूर्खमें ज्यों ॥८२॥

आकाशमें उमड़ते असिताभ्रमें त्यों
सौदामनी क्षणिक-तेज विलीन होती।
विष्णुप्रिया अमल पात्र निवासकर्त्री
है चञ्चला कलुषिताङ्ग कुपात्रमें ज्यों ॥८३॥

वे मेघ-दर्शन-विमुग्ध मयूर कैसे
नृत्यानुरक्त अपने प्रियको रिझाते।
मानो विभोर हरिदर्शन-लाभसे हो
आनन्द-नृत्य करता हरिभक्त कोई ॥८४॥

वर्षाम्बु नूतन विशुद्ध मिला उन्हें है,
हैं पुष्ट जीव सचराचर वे धराके।
सत्सङ्ग-लाभ-परिमार्जित बुद्धिसे हो
शुद्धात्मपुष्टि जगमें हरिभक्तकी ज्यों ॥८५॥

थी क्षुद्र शुष्क सरिता, वह कूल दोनों-
को तोड़ आज मदसे इठला रही है।
अल्पज्ञ दम्भयुत बुद्धि-विदग्ध जैसे
सर्वज्ञ पण्डित निरङ्कुश-सा दिखाता ॥८६॥

गम्भीर नीरनिधि मध्य तरंग आते,
हैं क्षुब्ध ये, उमड़ती नदियाँ मिलीं जो।
ज्यों वासनासहित भक्तिविहीन योगी
हो क्षुब्ध, सङ्ग मिलता जब नारियोंका ॥८७॥

आकाश जो निखिल-शब्द-गुणाश्रयी है,
तन्मध्य लक्ष्य धनु निर्गुण इन्द्रका है।
है जीव रूप-गुणयुक्त शरीरधारी
सत्-ज्ञान-ज्योतिमय निर्गुण ब्रह्म जैसे ॥८८॥

हैं मेघ भानु-कर-निर्मित-देहधारी
आच्छन्न आप उनसे वह आज कैसे ?
ज्यों ब्रह्मनिर्मित अहंकृति-भावनासे
आच्छन्न आप रहता वह सर्वदा ही ॥८९॥

आह्लादसे सरस पावस मास दोनों-
के दृश्य सुन्दर सखा सह देखते थे–
श्रीकृष्ण और बलराम वहाँ वनोंमें,
थीं गोपियाँ परम मुग्ध यहाँ गृहोंमें ॥९०॥

वे मेघगर्जन तथा असिताभ्रमें भी
श्रीकृष्ण-शब्द सुनतीं, लखतीं उन्हींको।
वर्षाम्बुमें रस उन्हें मिलता सदा ही,
जो कृष्णचन्द्र-चरणामृतमें उन्हें था ॥९१॥

वर्षा-समीर बहता जब अङ्ग छूता,
वे स्पर्श प्राप्त करतीं निज कृष्णका ही।
हो प्राप्त गन्ध यदि पावस-पुष्पकोंसे,
था प्राणवल्लभ-शरीर-सुगन्ध ही तो ॥९२॥

था तन्मयत्व यह–कृष्ण-पदाब्जमें ही
संलग्न ये भ्रमरियाँ व्रजगोपिकाएँ।
थी उर्वरा हृदय-भूमि जहाँ मुरारि-
प्रेमाम्बु-वृष्टिमय पावस था सदा ही ॥९३॥

वर्षान्त देख शरदागमनोत्सुका-सी
प्यारी धरा निरखती हरिताम्बरा हो
है रङ्ग-मञ्च जग, नाट्य नटी प्रगल्भा
है ला रही प्रकृति नूतन दृश्य कैसा ॥९४॥

लोकार्थ आत्म-बलिदान-फलाप्ति कैसी
है आज लक्षित वहाँ उन वारिदोंकी ?
है शुभ्र जो गगनमें यश आज फैला,
आता यहाँ मिलित हो रवि-रश्मियोंमें ॥९५॥

थी वृष्टि-काल रज-मिश्रित अम्बुधारा,
है आज स्वच्छ-सलिला सरिता शरत्की ।
ज्यों योगसे च्युत हुआ नर साधनासे
पाता पुनः विमलता मन-बुद्धिको है ॥९६॥

वे धीर पर्वत खड़े निज निर्झरोंसे
हैं दे रहे सुजल किंतु कहीं न देते ।
ज्यों ज्ञानको वितरते रहते कहीं हैं,
हैं ज्ञानवान चुप हो रहते कहीं तो ॥९७॥

जो क्षुद्र जीव छिछले जलमें पड़े हैं,
है सूखता जल, परंतु न ज़ानते वे ।
संसार-मग्न नर, हाय ! न जानता है,
है क्षीयमाण निज आयु शनैः-शनैः ज्यों ॥९८॥

है स्वल्प नीर शरदातप-तप्त होता,
मत्स्यादि जीव तपते रहते उसीमें ।
संसारमें त्रिविध ताप यथा सताते
मोहाभिभूत हरि-भक्ति-विहीनको हैं ॥९९॥

वर्षाम्बु-पङ्किल धरा तृण-धान्य-वल्ली—
हैं पुष्ट आज शरदातप वायुसे ये,
ज्यों भक्तिके उदयसे परिपक्व होती
सद्वृत्तियाँ शिथिल जो मन-बुद्धिकी थीं ॥१००॥

हैं जागरूक, जल रक्षित खेतमें हो,
दूँ क्षिप्र बाँध—कृषकोचित भावना है
है प्राप्त भक्ति-रस, निर्गत हो न जाये,
सत्सङ्ग-बद्ध रखता हरिभक्त जैसे ॥१०१॥

शीतोष्ण-साम्य रहता ऋतुमें सदा ही,
है व्योम निर्मल, दिवाकर, चन्द्र, तारे।
ज्यों द्वन्द्वसे रहित निर्मल भक्तको है
ज्ञान-प्रकाश हृदयोत्थित भक्ति देती ॥१०२॥

वर्षा गयो, अब हुई सुविधा नृपोंको,
यात्रार्थ तापस-वणिग्जन-भिक्षुकोंको।
ज्यों भक्तिदायक चतुर्विध आश्रमोंमें
हो प्राप्त साध्य सुख साधन साधकोंको ॥१०३॥

है यत्र-तत्र अति सीमित वृष्टि होती,
ज्यों संत स्वल्प कलिकाल करालमें हैं।
है वारिशोषक अगस्त्य उगा हुआ त्यों,
अज्ञाननाशक यथा हरि-भक्ति होती ॥१०४॥

वर्षोपरान्त अब फूल खिले सुहाते,
हैं कासके धवल, दृष्ट जहाँ-तहाँ ये।
आँसू यथा विरहिणी नित जो बहाती,
है आज हास्य-वदना, पति आ गये हैं ॥१०५॥

कैसी रम्या मृदुल सुषमा विस्तृता है शरत्की,
छायी कैसी परम सुखदा शान्ति वृन्दाटवीमें!
आती कैसी ध्वनि मधुमयी दूरवर्ती वनोंसे,
है जो लाती मन-मधुपको खींच गोपीजनोंके ॥१०६॥

वंशीका जो मधुर रव है विश्वमें व्याप्त होता,
मायासे जो बधिर जग है, क्यों सुनेगा अभागा।
प्यारे! तेरी मधुर मुरलीकी कथा गा रहा हूँ,
आशा होती हृदय-तलमें, श्रोत्र मेरे खुलेंगे ॥१०७॥

षष्ठ सर्ग

अरी कृष्णकी प्यारी वंशी, तेरी मादकताका
वर्णन भला कौन कर सकता ? तेरी विजय-पताका
लहर-लहर ऊपर लहराती गिरि-वन-सरिताओंके ।
फहराती है हृदय-राज्यमें व्रज-नर-वनिताओंके ॥ १ ॥

जहाँ देख लो सारे व्रजमें चर्चा आज सुनाती ।
आपसमें गोपी-गोपी मिल तेरे ही गुण गाती ॥
कैसा तूने प्रबल गोपियोंपर है जादू फेरा ।
पता नहीं है, कहाँ सभीका भूल गया 'मैं' 'मेरा' ॥ २ ॥

प्रियतमके मधुमय अधरोंसे मिलकर तूने भेजा
स्वर था दिव्य, कर्णरन्ध्रोंसे मिला गोपियोंके जा ॥
व्याकुलता बढ़ गयी, गोपियाँ लगीं परस्पर कहने ।
तेरी मादक स्वर-लहरीमें लगीं विवश वे दहने ॥ ३ ॥

जिसका भाल मोरपंखोंसे सुन्दर सजा दिखाता ।
श्याम अङ्गको पीताम्बरसे जो है नित्य सजाता ॥
कर्णिकारका कुण्डल शोभित है प्रत्येक श्रवणमें ।
बार-बार है लगी बाँसुरी अधरामृत-स्वादनमें ॥ ४ ॥

वक्षःस्थलमें लोट रही है वैजयन्तिका-माला ।
नटवरवेश घूमता वनमें वही नन्दका लाला ।
बालक झूम-झूम गाते हैं उसकी लीलाओंको ।
चिर कृतज्ञ हैं, उसने टाली उनकी विपदाओंको ॥ ५ ॥

कहा एक गोपीने, "जगमें धन्य वही है प्राणी।
श्याम-रामको गुण-गाथामें लगती जिसकी वाणी ॥
गौओंके पीछे-पीछे जो श्याम-राम हैं आते।
प्रेममुग्ध गौओं-ग्वालोंको मुरली-तान सुनाते ॥ ६ ॥

"धन्य वही जिसकी आँखोंने झाँकी उनकी पायी।
धन्य वही जिसके कानोंमें मुरलीकी ध्वनि आयी ॥
जो नर इनको धन्य मानते धन्य उन्हें भी माना।
पूर्ण ब्रह्म अवतार कृष्णको हमने है पहचाना" ॥ ७ ॥

'पूर्ण ब्रह्म अवतार कृष्ण हैं' इसमें भर दी हामी।
अतः गोपियोंने माना था कृष्णचन्द्रको स्वामी ॥
बोली पुनः दूसरी गोपी, "धन्य जन्म मुरलीका।
सतत कृष्ण-अधरामृत पीती, यह सौभाग्य उसीका" ॥ ८ ॥

कहने लगी तीसरी गोपी, "पुण्य अनेक किये थे।
बहुविधि जप-तप-व्रत-संयमकर दान अनेक दिये थे ॥
उसी जीवने जन्म लिया है, बना बाँस व्रज आया।
उसी बाँसकी बनी बाँसुरी, सफल जन्म कर पाया ॥ ९ ॥

"धन्य सूर्यकी वे किरणें थीं जिनने मेघ बनाया।
धन्य मेघ वह था भूतलपर जिसने जल बरसाया ॥
जिस जलसे अभिषिञ्चित होकर हरित बाँस बढ़ पाया।
धन्य बाँस, 'वंशी निर्मित हो' तूने दे दी काया" ॥१०॥

चौथी गोपी लगी बोलने, "वेणु-नाद है कैसा ?
सान्द्र गभीर पयोद गरजता, भ्रम होता है ऐसा ॥
नाच रहे उन्मत्त मोर ये पंखोंको फैलाकर।
गिरि-वन-देव-देवियाँ सुनतीं मुदित वहाँपर आकर" ॥११॥

वहाँ एक गोपीका निकला यह उद्गार हृदयका—
"सखी, हाल मैं क्या बतलाऊँ उस वंशीकी लयका ॥
जीव-जन्तु जो जल-थल, गिरि-वन, नगर-गाँवमें बसते ।
हैं चेतन, पर सुन वंशी-रव जड होकर हैं रहते ॥१२॥

"यह कैसी विपरीत रीति है—चेतन तो जड होते ।
जड चेतन हो उठे दीखते, मानो थे वे सोते ॥
पुलकित-से प्रतीत होते हैं, है प्रभाव यह कैसा ?
कृष्ण-अधरसे मिली बाँसुरी खेल खेलती ऐसा" ॥१३॥

बोली अपर गोपिका कोई, "मैं तो ऐसा मानूँ ।
व्रजकी धेनु-मण्डली, खग-मृग, लता-गुल्म पहचानूँ ॥
ये सब मुनिगण संत-वृन्द हैं इन रूपोंमें आये ।
वेणु-नाद-रस-पान-मुग्ध हो जन्म सफल कर पाये" ॥१४॥

मुरलीके गुण गाती-गाती एक गोपिका बोली—
"अहोभाग्य है गोवर्धनका' हम सब तो हैं भोली ॥
प्रियतमके पद-रजसे जिसका वक्षःस्थल अङ्कित है ।
मुरली-मधुर-तानसे जिसका रोम-रोम झंकृत है ॥१५॥

"गुफा-गुफामें वह गायोंको चुरा-चुरा लाता है ।
जिन्हें कन्हैयाका मुरली-रव बुला-बुला लाता है ॥
चुरा कृष्णके गो-समूह हम हृदय-गुफामें लायें ।
कभी न छोड़ें यद्यपि वे नित मुरली-तान सुनायें" ॥१६॥

इसी तरह वे मुग्ध गोपियाँ मुरलीके गुण गातीं ।
मुरलीके वादनकर्त्तापर न्योछावर हो जातीं ॥
मुरली तो थी नाद-ब्रह्मका रूप जगतमें आयी ।
प्रेमयोगकी उच्च साधिका गोपी चित्त समायी ॥१७॥

गोपीजनकी कृष्ण-राग ही सबसे बढ़कर पूँजी।
उन्हें कृष्णमय बन जाना था, नहीं साधना दूजी॥
बहुविध पूर्व-पूर्व जन्मोंमें कठिन साधनाओंकी—
थी फलाप्ति, मनमें जो लहरें उठी प्रेमभावोंकी॥१८॥

इन भावोंमें छकी गोपियाँ चिन्तित सारे व्रजमें।
खोयी वस्तु ढूँढ़तीं मानो व्याकुल हो घर-घरमें॥
चेहरे उतर गये, मुख पीले पड़े, रुग्ण हों जैसे।
घरवालोंको अब चिन्ता थी स्वस्थ बनें वे कैसे॥१९॥

वैद्योंने देखा, पर पाये नहीं रोगके लक्षण।
कहा, 'घोर चिन्ता है कोई ऐसी स्थितिका कारण'॥
घरवाले जब हाल पूछते, वे कुछ नहीं बतातीं।
आँसूभरे मूँद नयनोंको, मात्र मौन हो जातीं॥२०॥

इसपर घरवाले चिढ़ जाते, पर वे विवश करें क्या?
उनकी कठिन भर्त्सनाओंसे भी वे, भला, डरें क्या?
उन्मन-सी घरके कामोंमें लग तो वे जाती थीं।
पर पहलेकी तरह उन्हें वे ठीक न कर पाती थीं॥२१॥

झाड़ूमें, बर्तन-बासनमें, कण-कणमें छवि आती।
प्रियतमकी सुन्दर झाँकी पा स्तब्ध-मौन हो जाती॥
दधिमें, वही मथानीमें, डोरीमें भी छवि मिलती।
प्रियतमकी तिरछी चितवन दीपककी लौमें हिलती॥२२॥

हाथोंसे छूटी चीजें धरतीपर गिर जाती थीं।
बड़ी कठिनतासे उनको फिर वे सँभाल पाती थीं॥
डाँट-डपट स्वजनोंकी वे फटकार सदा सहती थीं।
किंतु निरुत्तर धरतीपर वे नयन सजल रखती थीं॥२३॥

घरमें, बाहरमें, गलियोंमें, जहाँ घूमतीं व्रजमें।
यमुना-तट पनघटपर आतीं, सदा भटकतीं वनमें॥
खड़े दूरपर देख कृष्णको दौड़ निकट आती थीं।
हाय! वहीं अन्तर्हित उनको पकड़ न वे पाती थीं॥२४॥

उनमें कुछ तो हुईं बावरी दही बेचने आतीं।
'ले लो दही' वाक्य दुहराना भूल यहाँ वे जातीं॥
'ले लो कृष्ण' बोल बदलेमें हास्यास्पद बनती थीं।
किंतु 'कौन है बोल रहा क्या?' समझ नहीं रखती थीं॥२५॥

जो गम्भीर गोपियाँ अबतक बाह्य ज्ञान रखती थीं।
व्रजके कोनों-कोनोंसे जुट जहाँ-जहाँ मिलती थीं॥
एकमात्र प्रियतम-गुणगायन स्वजनोंसे छिपकर ही—
साश्रु नयन गद्गद वाणीसे करती थीं नित-नित ही॥२६॥

था रहस्यमय गोपीजनका भूतलपर ही आना।
कृष्णचन्द्रपर चातक बनकर उनसे प्रीति लगाना॥
देखा था नवजात कृष्णको पहले-पहल जिन्होंने।
निर्निमेष न्योछावर निजको सद्यः किया उन्होंने॥२७॥

इस रहस्यको भोले-भाले घरवाले क्या जानें?
ढका योगमायाने जिसको वे कैसे पहचानें?
कृष्णचन्द्रने उनको भी यह पीछे ज्ञान कराया।
त्रिकालज्ञ ऋषियोंने जगको यह रहस्य बतलाया॥२८॥

हरिको था सर्वोच्च त्यागका जगको पाठ पढ़ाना।
अति रसमय, रहस्यमय लीलाका अभिनय दिखलाना॥
नित्यसिद्ध गोपीजनके पति एकमात्र हैं माधव।
प्रकटे स्वयं योगमायासे गोपरूपमें नव-नव॥२९॥

लोकदृष्टिमें तो ये इन पतियोंसे ही थीं ब्याही।
पर यह चमत्कार था अद्भुत हरिकी लीलाका ही॥
देखा एक-एक गोपीने निज विवाहमें विस्मित—
'मेरा हैं कर ग्रहण कर रहे स्वयं कृष्ण ही सुस्मित' ॥३०॥

मोहग्रस्त ब्रह्माने हरिसे व्रजमें कपट किया था।
धेनु-वत्स-गोचारक-गणको गिरिमें छिपा दिया था॥
उन रूपोंमें स्वयं कृष्ण ही प्रकट हुए थे व्रजमें।
एक वर्षतक दिव्य प्रेमकी वृष्टि हुई घर-घरमें ॥३१॥

इसी अवधिमें हुई सगाई जिन-जिन कन्याओंकी।
फिरी भाँवरी पतियोंके सँग जिन-जिन बालाओंकी॥
बाह्य दृष्टिसे वे दुलहे तो वहाँ दूसरे ही थे।
पर प्रत्यक्ष सभी दुलहिनके वे वर कृष्ण सभी थे ॥३२॥

निज पतिका परित्याग नारियोंका होता है दूषण।
लौकिक पतिका सङ्ग-त्याग गोपीजनका था भूषण॥
कृष्ण-हेतु सर्वस्व-त्यागका यह आदर्श दिखाना।
मधुर भावमें भी केवल गोपीजनने था जाना ॥३३॥

व्रजमें थीं जो त्रिविध गोपियाँ कृष्णचन्द्रकी प्यारी।
कुछ तो उनमें नित्यसिद्ध थीं, इस जगसे थीं न्यारी॥
पूर्ण सच्चिदानन्दमयी थीं नित्यधामसे आयी।
सहचरियाँ नित हरि-लीलामें निज छायाकी नाईं ॥३४॥

त्रेतामें रामावतार था इस पुनीत वसुधामें।
रामरूपपर मुग्ध अवधमें, कोसलमें, मिथिलामें॥
चित्रकूटमें, दण्डकवनमें, पञ्चवटीमें आये।
मगमें, वनमें, नगर गाँवमें, जिनके चित्त चुराये ॥३५॥

वे नर और नारियाँ, ऋषिगण महाभाग्यशाली थे।
उनके हृदय वासनाओंसे रहित, अतः खाली थे॥
स्थान प्राप्तकर प्रभुकी अनुपम छविने डेरा डाला।
नयी वासना घुसे नहीं, बस, तुरत लगाया ताला॥३६॥

तीव्र लालसा जगी हृदयमें, "कहीं उन्हें पा लूँ मैं।
उस सौन्दर्य-माधुरी-रसका अविरल पान करूँ मैं"॥
मर्यादा-पुरुषोत्तम प्रभुने कहा मूक भाषामें—
"लीला-पुरुषोत्तम बन आऊँ, रहो इसी आशामें॥३७॥

"द्वापरमें कृष्णावतार ले गोकुलमें आऊँगा।
तुममें एक-एकका गोपी रूप वहाँ पाऊँगा॥
हे मेरे सौन्दर्य-माधुरी-प्रेमयोगके योगी!
तुम सबकी माधुर्य-भावना पूर्ण वहीं, बस, होगी"॥३८॥

यह वरदान रामका पाकर जो कृतकृत्य हुए थे।
वे सब यहाँ गोपियाँ होकर गोकुलमें प्रकटे थे॥
इनके यूथ-यूथ थे व्रजमें हरि-पद-रज-आश्रित हो।
प्रभुके प्रेम-माधुरी-रससे नित-नित अभिषिञ्चित हो॥३९॥

बहुविधि मधुर-साधनासिद्धा व्रजमें प्रकट हुई थीं।
गोपोंके गृह कन्याएँ बन, वे सब कृष्णमयी थीं॥
ये प्रधान दस वर्ग गोपियोंके यूथोंके व्रजमें।
कृष्ण-प्रेमकी घनीभूत प्रतिमाएँ वृन्दावनमें॥४०॥

मधुर भावसे कर उपासना ऋषियोंने पाये थे।
व्रजमें गोपी-रूप, उन्हींमें उग्रतपा आये थे॥
यहाँ सुनन्दा गोपी व्रजमें बन सुनन्दकी कन्या।
सत्यतपा आये सुभद्र-पुत्री भद्रा बन धन्या॥४१॥

युगल रूपकी कर उपासना हरिधामा वर पाकर ।
प्रकटे यहाँ रङ्गवेणी बन सारँगके घर आकर ॥
ऋषि जाबालि बने प्रचण्डकी कन्या आये व्रजमें ।
उनका नाम चित्रगन्धा गोपी था वृन्दावनमें ॥४२॥

गोपी बने इन्हीं ऋषियोंका एक यूथ था व्रजमें ।
ऋषिरूपा ये सभी गोपियाँ आयीं वृन्दावनमें ॥
श्रुतियाँ भी थीं तप-प्रभावसे बनी गोपियाँ आयी ।
केवल वे दस यूथोंमें थीं श्रुतिरूपा कहलायी ॥४३॥

जगजननी सीताने पायी परम शान्ति धरतीके ।
भीतर घुसकर बैठ अङ्कमें प्यारी निज जननीके ॥
राम एकपत्नीव्रत लेकर यज्ञ किया करते थे ।
वामपार्श्वमें स्वर्णमयी सीता-प्रतिमा रखते थे ॥४४॥

एक-एक प्रतिमा सजीव बन प्रकट सामने होकर ।
प्रणत हुई प्रियतम चरणोंको अश्रुकणोंसे धोकर ॥
उनकी इच्छापूर्ति-हेतु प्रभुने वरदान दिया था ।
सीताओंके एक यूथने व्रजमें जन्म लिया था ॥४५॥

थे व्रजमें विख्यात यूथ नागेन्द्र-कन्यकाओंके ।
अवधवासिनी तथा कौसली, मैथिल ललनाओंके ॥
जालन्धरी तथा पौलिन्दी, देवनारियोंके थे ।
ये प्रसिद्ध दस यूथ गोपियोंके आये व्रजमें थे ॥४६॥

ब्रह्मानन्दमयी सदैव है जिसकी निर्मल काया ।
गोपी-प्रेम ब्रह्मविद्याने भी तप करके पाया ॥
ऋषि जाबालि इसीसे दीक्षित प्रेममार्गमें होकर ।
व्रजमें आये थे गोपी बन जब आया यह द्वापर ॥४७॥

त्रिगुणजन्य ये तीन दोष हैं प्रेम-मार्गमें काँटे ।
मल[1], विक्षेप[2], आवरण[3] इनको कोई कैसे काटे ॥
है, बस, हरिकी कृपा-अस्त्र जो इनको काट सकेगा ।
शरणागतवत्सल हरि-आश्रित इनको पार करेगा ॥४८॥

जप-तप-व्रत-नियमादि कर्मको इष्टप्राप्ति-हित करते ।
वैधो-भक्ति-साधना जगमें नाम उसीका कहते ॥
रागात्मिका भक्तिमें उसका पर्यवसान सदा ही ।
पूर्ण समर्पण, बस, अन्तिम है परिवर्तन उसका ही ॥४९॥

वैधी-भक्ति-साधना मनको मलसे रहित बनाती ।
रागात्मिका भक्ति विक्षेपोंको है दूर भगाती ॥
पूर्ण समर्पणके पहले है दूर आवरण होता ।
नित्य-निरन्तर तब लगता है प्रेमसिन्धुमें गोता ॥५०॥

कुछ तो मल-विक्षेप-आवरण-रहित गोपिकाएँ थीं ।
मल-विक्षेप-रहित भी कोई उच्च साधिकाएँ थीं ॥
इन्हीं गोपियोंके माध्यमसे जगको था सिखलाना ।
प्रेमादर्श उच्चतम रखकर लीला था दिखलाना ॥५१॥

नित्यधामके वृन्दावनमें हरिलीला जो चलती ।
हरिकी दया वही भूतलपर आकर कभी उतरती ॥
अप्राकृत उन लीलाओंको प्राकृत नर क्या जाने !
महापराध दोष दिखलाकर कर लेता अनजाने ॥५२॥

---

१. जन्म-जन्मान्तरोंके पाप, जो संस्कार रूपसे मनपर अङ्कित हैं, उन्हींको शास्त्रोंमें 'मल' (मनका मैल) कहा गया है ।

२. मनकी चञ्चलताका नाम ही 'विक्षेप' है ।

३. मनपर जो अज्ञानका पर्दा पड़ा हुआ है, जो आत्माके वास्तविक स्वरूपको छिपाये हुए है, उसीको 'आवरण' कहते हैं ।

हरिकी लीला वृन्दावनमें स्थूल जगतसे न्यारी ।
दिव्य-दिव्यतर अति चिन्मय वह परम शुद्ध अविकारी ॥
गोपी-प्रेम दिव्यतम, उज्ज्वल, अकथ, अचिन्त्य, निराला ।
वर्धमान वह सदा प्रतिक्षण भरा प्रेमका प्याला ॥५३॥

कृष्णचन्द्रकी समवयस्क थीं कुछ कन्याएँ व्रजमें,
साधनसिद्ध पूर्वजन्मोंकी, प्रकटी थीं भूतलमें ।
अविवाहित, इनके माध्यमसे प्रभुको था सिखलाना ।
प्रेम-प्राप्ति हित वैधी-भक्ति-महत्त्व-तत्त्व बतलाना ॥५४॥

वेणु-गीतको गाती-गाती विह्वल थीं हो जाती ।
शरत्-कालको सभी गोपियाँ हो बेचैन बितातीं ॥
वेणु-गीतने इन कुमारियोंको भी विकल बनाया ।
उसी चोरने इन बालाओंका भी चित्त चुराया ॥५५॥

अब असह्य थी विरह-वेदना, 'कृष्ण-मिलन कैसे हो ?
कात्यायनी-मातृ-शरणागत हो जायें, जैसे हो ॥
नन्हा-सा शिशु निज माताको छोड़ कहाँ है जाता ?
यही हमारी अभिलाषा वे पूर्ण करेंगी माता' ॥५६॥

ऋतु हेमन्त मास-युग्मोंमें प्रथम कृष्ण अपनाते ।
मासोंमें जिस मार्गशीर्षको निज विभूति बतलाते ॥
उसी मासके प्रथम दिवससे व्रत-संकल्प लिया था ।
कात्यायनी-मातृका-पूजन-व्रत आरम्भ किया था ॥५७॥

जगकर ब्राह्मकालमें, लेकर अनघ गोप-बालाएँ ।
गन्धाक्षत, सिन्दूर, दीप, नैवेद्य, धूप, मालाएँ ॥
भय-संकोच-मुक्त हो निकलीं यूथ बाँध निज घरसे ।
देवी पूज वस्तु नश्वरसे मिलना था ईश्वरसे ॥५८॥

यूथ-यूथ मिल चली जा रहीं कृष्ण-नाम-गुण गाती ।
भर अदम्य उत्साह हृदयमें फूली नहीं समातीं ॥
'है यद्यपि उपहार तुच्छ, पर हृदय-भाव जानेंगी ।
हम प्रसन्न मातासे निश्चय वर अभीष्ट पायेंगी' ॥५९॥

कालिन्दीके तीर आज वह भीड़ लगी है भारी ।
वस्त्र खोल यमुनामें उतरीं प्रेमपात्र अधिकारी ॥
बनीं बालुकामयी मूर्तियाँ देवी जगदम्बाकी ।
जिन्हें पूजतीं बालाएँ सब शरणागत माताकी ॥६०॥

"कात्यायनी, महामाया तू, महायोगिनी देवी ।
अधीश्वरी तू, शरणागत हैं हम तेरे जन सेवी ॥
नन्दगोप-सुत कृष्ण हमारे प्रियतम पति बन जायें ।
परम ब्रह्म अवतार कृष्ण-पद-रति नित-नित हम पायें" ॥६१॥

षोडश विधि पूजा समाप्तकर ध्यानमग्न हो जातीं ।
फिर अपने घर लौट नित्य ही हविष्यान्न थीं खाती ॥
पर अनजाने एक दोष पूजामें बन जाता था ।
जिससे उनका इष्ट कर्म ही सफल न हो पाता था ॥६२॥

'जलमें स्नान नग्न हो करना शास्त्रनिषिद्ध सुनाते ।
जलके स्वामी वरुणदेवका हैं अपमान बताते ॥
यही शास्त्रकी मर्यादाका उल्लङ्घन हो जाना ।
बाधक कार्यसिद्धिमें होता' प्रभुको था समझाना ॥६३॥

निजकल्पित आचरण मोहवश करता है मनमाना ।
शास्त्रविधान छोड़कर चाहे सुगति-सिद्धि-सुख पाना ॥
सदा असम्भव पत्थरपर ज्यों दूब जमा ले प्राणी ।
यही सदा भगवान सिखाते, यही संतकी वाणी ॥६४॥

वरुणदेवसे आवश्यक था अब तो क्षमा मँगाना।
वैधी-भक्ति-साधनाको था अब पूर्णत्व दिलाना॥
रागात्मिका भक्तिसे उनका ओत-प्रोत मन था ही।
पूर्ण समर्पण क्रिया शेष थी जो उनकी मनचाही॥६५॥

पूर्ण समर्पणकी चेष्टा ही मात्र जीव कर पाता।
स्वयं समर्पणकर्ता पर है असमर्पित रह जाता॥
अतः जीवका पूर्ण समर्पण केवल तब है सम्भव।
जो स्वीकार कृपाकर कर लें जीवोंके पति माधव॥६६॥

वे ही आज कृपाकर माधव यमुना-तीर पधारे।
सदा प्यार भक्तोंको करते वे भक्तोंके प्यारे॥
था कदम्ब-तरु, ये कुमारियाँ जहाँ स्नान करती थीं।
उसी वृक्षके नीचे वे निज वस्त्रोंको रखती थीं॥६७॥

हरि बटोर चुपके वस्त्रोंको चढ़े वृक्षके ऊपर।
जब कुमारियोंने देखा, थे वस्त्र नहीं धरतीपर॥
'अरे, वस्त्र क्या हुए हमारे ?' भ्रान्त बुद्धि चकरायी।
दृष्टि पड़ी जाकर कदम्बपर, बात समझमें आयी॥६८॥

थी आकण्ठ मग्न, नीले जलकी धारा ऊपर थी।
प्रेम-नीरकी उज्ज्वल धारा जो बहती उरमें थी—
उमड़ी वही कृष्ण-दर्शनसे, कौन उसे जानेगा।
गोपी-भाव बिना उसका अनुभव कैसे पायेगा॥६९॥

भीतर थी सुस्निग्ध भावना, ऊपर कोप दिखाती।
बोली यों प्रत्येक बालिका, "मुझको नहीं सुहाती।
यह तेरी करतूत, कृष्ण हे, वस्त्र गिरा दे मेरा।
थर-थर काँप रही जाड़ेसे, क्या सुख इसमें तेरा ?"॥७०॥

बोले कृष्ण, "सोचती उलटी, मैं तो थाह रहा हूँ।
सुख अनन्त तुमको मिल जाये, मैं तो चाह रहा हूँ॥
पूर्ण समर्पणकी तैयारी अगर देख लूँगा मैं।
प्रेमराज्यमें सर्वोत्तम पद तुमको दे दूँगा मैं॥७१॥

"अगर चाहती वस्त्र, सामने एक-एक आ जाओ।
अथवा एक साथ ही मिलकर निज वस्त्रोंको पाओ॥
मैं मनका संकल्प जानता, भूल हुई तुमसे है।
प्रायश्चित्त भूलका कर दो, फल-निरोध जिससे है" ॥७२॥

घबरायीं सुन सभी गोपियाँ, भूल हुई उनसे है।
क्या उपाय भूलोंका होगा, फल-निरोध जिनसे है?॥
गुप्ताङ्गोंको छिपा करोंसे लज्जासे अवनत हो।
जलसे निकल वृक्षके नीचे आयीं शान्त-प्रणत हो॥७३॥

एक-एक बाला तब बोली, "तुमसे क्या कहना है।
अब तो वस्त्र कन्हैया दे दो, परदा तो रखना है॥
तुम हो अखिल विश्वके नायक, घट-घटके हो वासी।
जलमें, थलमें, जड-चेतनमें व्याप्त सदा अविनाशी" ॥७४॥

बोले कृष्ण, "मोहका परदा हटा तुम्हारा, फिर यों
पड़ी मोहमें परदेके अब हो कुमारियो! तुम क्यों?
अनुपम त्याग धन्य तुम सबका पूर्ण इसे होने दो।
यह आदर्श त्यागका अब तो जगको रख लेने दो॥७५॥

"निरावरण तुम जलमें जब थीं, मैं भी तो जलमें था?
अगर यहाँ लज्जाका भय है, वहाँ नहीं क्या भय था?
अङ्ग-अङ्गमें मैं फैला हूँ, रोम-रोममें पैठा।
है आवरण तनिक भी सम्भव जहाँ सदा हूँ बैठा॥७६॥

"इस रहस्यको जान-बूझकर फिर बनतीं अनजानी ।
निरावरण आना होगा ही, नहीं करो मनमानी ॥
मल-विक्षेप-रहित तुम जगमें प्रेमयोगिनी, आओ ।
पूर्ण साधना निज-निज कर लो, यह आवरण हटाओ" ॥७७॥

फिर भी ये कुमारियाँ चुप थीं, यह विचित्र है कैसा !
यही हाल दुविधाका जगमें प्रेममार्ग है ऐसा ॥
जग भी छूटे नहीं और जगदीश हमें मिल जाये ।
असमञ्जसकी बात, भला, यह सम्भव क्यों हो पाये ? ॥७८॥

बोले हरि, "अपमान वरुणका तुमने नित्य किया है ।
नग्न नहाकर उन्हें कोपका अवसर सदा दिया है ॥
क्षमा-याचना हाथ जोड़कर उनसे जब कर लोगी ।
तभी साधना पूरी होगी, तुम कृतकृत्य बनोगी ॥७९॥

"त्याग तुम्हारा है अपूर्व यह किया आजतक जो भी ।
अपने किये त्यागकी स्मृतिको और भावनाको भी ॥
भूलो, त्याग पूर्ण होने दो, सुन आदेश हमारा ।
नहीं हमारे लिये त्यागसे बढ़कर कुछ भी प्यारा ॥८०॥

"भय-संकोच मिटा स्वजनोंका व्रतमें यहाँ लगी हो ।
जगत मोह-निद्रामें सोता, तुम तो यहाँ जगी हो ॥
लज्जा क्यों है हृदय-राज्यमें अभी तुम्हारे रहती ?
इतने बड़े त्यागमें तुम हो क्यों कलङ्क यह रखती ?" ॥८१॥

लज्जाका अब ध्यान मात्र भी कहीं नहीं मनमें था ।
निरावरण हो मिलन-भाव ही तीव्र हुआ क्षणमें था ॥
पूर्ण समर्पणकी तैयारीमें अब हाथ उठेंगे ।
मर्यादाका उल्लङ्घन भी क्या भगवान करेंगे ? ॥८२॥

वस्त्रोंको कंधोंपर रखकर गिरा दिया ऊपरसे।
उठे हाथ, सबकी देहोंपर वस्त्र गिरे भर-भर-से॥
प्रभु तो निज भक्तोंकी दैहिक लज्जा सदा बचाते।
कभी नहीं वे मर्यादाका उल्लङ्घन करवाते॥८३॥

अधोवस्त्र प्रभुके कंधोंपर जाकर चढ़े पुराने।
हुए दिव्यतम अप्राकृत हो, उनको कौन बखाने?
पूर्ण समर्पणमें बाधक जो वस्त्र उन्हें दिखलाते।
हरि-संसर्ग प्राप्तकर पल-पल प्रभुका प्रेम बढ़ाते॥८४॥

जग तो प्रेममार्गका बाधक तबतक रह पाता है।
जबतक नहीं साधनासे यह हरिसे जुट जाता है॥
हरिसे जुटा जगत यह सारा हरिस्वरूप दिखलाता।
जग-आवरण दूर हरि करते, चीर-हरण बतलाता॥८५॥

वस्त्र पहनकर सब कुमारियाँ निश्चल मौन खड़ी थीं।
सुध-बुध भूल कृष्णपर उनकी आँखें अचल गड़ी थीं॥
पता नहीं, जड या चेतन हैं अमल मूर्तियाँ कैसी!
जड चेतनसे परे वस्तुतः कृष्णमयी थीं जैसी॥८६॥

बोले कृष्ण, "दिव्य भावोंको छोड़ जगतमें आओ।
अरी प्रेम-पथ-पथिक-शिरोमणि, जगको पाठ पढ़ाओ॥
श्रेष्ठ तुम्हारा त्याग पूततम मुझको ऋणी बनाता।
प्रेमयोगका सबसे ऊँचा यह आदर्श दिखाता॥८७॥

"तुम सब प्रेमयोगिनी, मैं हूँ सदा प्रेमका योगी।
करो प्रतीक्षा आगेकी जो शरत्-पूर्णिमा होगी॥
परम रम्य अति दिव्य मधुरतम रमण पूर्ण होना है।
जिसके श्रवण मात्रसे जग-जन-मनका मल धोना है॥८८॥

"महारासमें नित्यसिद्ध गोपीजनको है आना।
साधनसिद्ध गोपियोंको भी उसमें मुझे बुलाना॥
मधुर-भाव-साधनरत कुछ हैं अन्य गोपियाँ ऐसी।
मायाबद्ध जीव जगमें हैं, और जनोंकी जैसी॥८९॥

"वे मेरी सुन्दर छविपर नित आकर्षित होती हैं।
निज उरमें मुझ पूर्ण ब्रह्मकी प्रीति सदा बोती हैं॥
पर यह भी है एक साधना, फल अमोघ जिसका है।
वस्तु-कुवस्तु आग क्या जाने, यही हाल इसका है॥९०॥

"ज्ञानानल जल-जल भीतर ही बन्धन जला रहा है।
मेरा प्रेमपात्र पल-पल वह उनको बना रहा है॥
नश्वर तनके बन्धनसे वे सद्यः मुक्त बनेंगी।
भावदेहसे वे भी आकर मुझसे वहीं मिलेंगी"॥९१॥

प्रियतमका यह आश्वासन सुन, उनकी आज्ञा पाकर।
वे सब चलीं हृदय-जल-निधिमें प्रेम-तरंग छिपाकर॥
इच्छाके विपरीत, किंतु वे कैसे टाल सकेंगी?
प्रियतमका आदेश, भला, वे पालन क्यों न करेंगी?॥९२॥

गयीं बालिकाएँ, कदम्बसे उतरे नन्द-दुलारे।
नीचे खड़े साथियोंको ले चले सभीके प्यारे॥
वृन्दावनमें घूम-घूमकर गायें लगे चराने।
वनकी अनुपम शोभामें सब लगे चित्त वहलाने॥९३॥

उन्हें घूमते दूर वनोंमें भूख लगी जब भारी।
बोले कृष्ण, "भात खानेकी इच्छा बड़ी हमारी"॥
कहा उन्होंने, "कुछ ब्राह्मणगण यमुना-तटपर आकर।
यज्ञ आङ्गिरस स्वर्ग-हेतु हैं करते, उनसे जाकर॥९४॥

"कहो, 'भूखसे व्याकुल हैं वे श्याम-राम दोनों ही।
भोजन-हेतु भात कुछ दो, या चलकर दो उनको ही" ॥
यह संवाद कृष्णका लेकर बालक वहीं पधारे।
विप्रोंने जब सुना, अनसुनी कर दी बिना विचारे ॥९५॥

विप्रोंकी यह उदासीनताका वर्णन आ करके।
कहा गोप-बालोंने, तब हरि बोले, "तुम जा करके ॥
यज्ञपत्नियोंसे कह दो तो अन्न तुम्हें दे देंगी।
या भोजन-सामान लिये वे यहाँ स्वयं आयेंगी" ॥९६॥

गोप-बालकोंने आकर ज्यों हरिकी बात सुनायी।
यज्ञपत्नियोंके मानसमें हरिकी मूर्ति समायी ॥
रूप-माधुरीका वर्णन सुन मन न्योछावर था ही।
उसी रूपके दर्शनका यह शुभ अवसर आया ही ॥९७॥

यज्ञपत्नियाँ लगीं बोलने, "है अति भाग्य हमारा।
आये निकट, कृपाकर हरिने हम सबको है तारा ॥
चलो, चतुर्विध भोज्य वस्तुओंसे निज थाल सजायें।
सखी! प्रीतिसे सखा-सहित हरि जिनका भोग लगायें" ॥९८॥

पतिकी अनुमति बिना चलीं वे यज्ञपत्नियाँ वैसे।
हरि-आकर्षित वे थीं, लोहा हो चुम्बकसे जैसे ॥
दायें करमें मधुर बाँसुरी लेकर कृष्ण खड़े थे।
बायाँ हाथ मित्र-कंधेपर तरुसे लगे अड़े थे ॥९९॥

पीताम्बर था श्याम-अङ्गपर, अलकें डोल रही थीं।
मोरपंखसे भाल सुशोभित, आँखें बोल रही थीं ॥
मन्त्रमुग्ध हो हृत्कर्णोंसे सुन आँखोंकी वाणी।
यज्ञपत्नियाँ आज धन्य हैं, हैं कृतार्थ वे प्राणी ॥१००॥

'यदुकुलमें अवतीर्ण ब्रह्म हैं'—यह रहस्य था जाना।
'वे ही व्रजमें नन्दलाल हैं'—सबने था पहचाना॥
प्रियतम-भाव कृष्णमें रखतीं यज्ञपत्नियाँ आईं।
कृष्णचन्द्र मुखचन्द्र देखतीं सब चकोरकी नाईं॥१०१॥

कहा कृष्णने, "यज्ञपत्नियो! स्वागत मैं करता हूँ।
तुम-जैसे उपकारक जनका ध्यान सदा रखता हूँ॥
अन्न-दान दे हम गोपोंके तुमने प्राण बचाये।
भूख शान्त हम सबकी होगी, तुमने सुख पहुँचाये"॥१०२॥

यज्ञपत्नियाँ बोलीं, "प्रियतम! हमको क्या छलते हो?
वस्तु तुम्हारी सभी, हमें फिर दानी क्यों कहते हो?
सबके प्राण बचानेवालेके हम प्राण बचायें?
सबको सुख पहुँचानेवालेको हम सुख पहुँचायें?॥१०३॥

"है विडम्बना, क्षुद्र नारियाँ, नाथ! शरण हम आईं।
हमें बना लो चरण-सेविका निज भक्तोंकी नाईं॥
अगर हमारे अन्न-दानसे मिटती भूख तुम्हारी।
प्रेम-भूख दो मिटा, करो तुम इच्छा पूर्ण हमारी॥१०४॥

"पति-आज्ञा-प्रतिकूल स्वतः हम, नाथ! दासियाँ आयीं।
विरद सँभालो, शरण रखो तुम निज छायाकी नाईं॥
पतियोंके अपमान-तिरस्कृति कैसे, नाथ! सहेंगी।
हम सब चरण-सेविका निशिदिन प्रभुके साथ रहेंगी"॥१०५॥

बोले कृष्ण, "देवियो! मैंने तुम सबको अपनाया।
तुम तो बनीं स्वयं पावन अब, मेरा दर्शन पाया॥
तुम सबका दर्शन पाकर, तब शुद्ध-हृदय हो करके।
वे ब्राह्मणगण पछतायेंगे शुभ अवसर खो करके॥१०६॥

"सुनो, देवियो ! अब तुम जाओ, निर्भय सदा रहोगी ।
मधुर-भावमें पगी प्रेम-रस निशिदिन पान करोगी ।।
अन्तकालमें परमधाममें फिर मुझको पा जाना ।
निज जन हो बन गयीं देवियो, मैंने ऐसा माना" ।।१०७।।

अपने परम भाग्यको लखकर फूली नहीं समायीं ।
कृष्णचन्द्रको अभिवादन कर यज्ञपत्नियाँ आयीं ।।
यज्ञपत्नियोंके दर्शनसे शुद्ध-हृदय हो पाये ।
उनके पति सब अति दुःखित हो, रो-रोकर पछताये ।।१०८।।

यज्ञपत्नियोंको अपनाया प्रेमदानके द्वारा ।
उनके व्यथित मूढ़ पतियोंको भी मुरारिने तारा ।।
आये व्रजमें लौट, जहाँ सुख-शान्ति सदा रहती थी ।
ऋद्धि-सिद्धियों-सहित जहाँ श्री वास नित्य करती थी ।।१०९।।

इन्द्रयज्ञकी धूमधामसे व्रजमें तैयारी थी ।
गये सजाये भवन, वीथियाँ, शोभा अति न्यारी थी ।।
उत्सुक हो आश्चर्य-भावसे कहा कृष्णने, "बोलो ।
इन्द्रयज्ञका क्या रहस्य है, बाबा, हमसे खोलो" ।।११०।।

बोले नन्द, "इन्द्र हैं, बेटा ! सब मेघोंके स्वामी ।
भूतलपर हैं जल बरसाते हम उनके अनुगामी ।।
ताल-तलैया, नदी-नाल जल, वन-उपवन-हरियाली ।
लता-गुल्म, तृण-धान्य—सभीके पोषक वे बलशाली" ।।१११।।

कहा कृष्णने, "व्यर्थ इन्द्रको यह यश है मिल जाता ।
गिरिवर गोवर्धन हम सबके सचमुच भाग्य-विधाता ।।
चलें, इन्द्रको छोड़ इन्हींकी पूजा हम सब कर लें ।
होगी इनकी कृपा, सम्पदासे निज-निज घर भर लें" ।।११२।।

इन्द्रयज्ञको छोड़ आज गिरिवरकी पूजा होगी।
नेता हैं वे स्वयं योगियोंमें सर्वोत्तम योगी॥
दिव्य रूपमें स्वयं प्रकट ये निज वैभव फैलाये।
गिरिके मानो अधिष्ठातृ ही देव शिखरपर आये॥११३॥

सभी देख हैं चकित, 'देवता प्रकट आज गिरिवरके।'
नतमस्तक नन्दादि गोपजन उनकी पूजा करके॥
बड़ी भक्तिसे गोवर्धनकी हैं परिक्रमा करते।
हाथ जोड़ सुस्मित मुरारि, हैं सबसे आगे चलते॥११४॥

पूजा थी सम्पन्न, किंतु थे इन्द्र बड़े अभिमानी।
यह उनका अपमान घोर था, व्रजने की मनमानी॥
यह असह्य थी बात, हृदयको कोपानल छू-छूकर।
रोम-रोममें लग विवेकको जला रहा धू-धूकर॥११५॥

कुपित इन्द्रने मनमें ठाना, 'व्रजको नष्ट करूँगा।
कुटिल कृष्णके इस कुकृत्यको मैं तो नहीं सहूँगा'॥
सांवर्तक मेघोंसे बोले इन्द्र, "यहाँ आ जाओ।
प्रलय-कालकी घोर घटाएँ व्रज-नभपर छा जाओ॥११६॥

"मूसलधार वृष्टिसे व्रजको जलप्लावित करना है।
व्रज-नर और नारियों, गोधन सबको अब मरना है॥
अरे मरुद्गण, व्रजमें झंझावातोंको फैलाकर।
नष्ट-भ्रष्ट वृन्दावनको कर दो सद्यः तुम जाकर"॥११७॥

अनल-पुञ्जसे होड़ लगाकर छोटी-सी चिनगारी।
चली गर्वसे बल दिखलाने, है विडम्बना भारी॥
चिनगारी निज क्षुद्र शक्तिको अनल-पुञ्जसे पाती।
अनल-पुञ्जको जीत सकेगी ? बात समझमें आती ?॥११८॥

मूसलधार वृष्टि सचमुच है या कोई है माया ?
झंझावातोंको लेकर या प्रलयकाल है आया ?
अरे ! भयंकर प्रकृति-कोपसे कैसे त्राण मिलेगा ?
व्रजका अननुभूत संकट यह कैसे, हाय ! टलेगा ? ॥११९॥

नहीं शुष्क थी भूमि, ढूँढ़ लो व्रजके कोने-कोने ।
अब असह्य था कष्ट, कहा तब व्रज-नर-वनिताओंने—
"कृष्ण ! कृष्ण ! हे प्रियतम बन्धो ! संकट दूर भगाओ ।
सदा बचाया विपदाओंसे, अब भी, नाथ ! बचाओ" ॥१२०॥

कहा कृष्णने, "देखो, गिरिवर सबको बुला रहे हैं ।
स्वयं भूमिको छोड़ छत्रकी छाया बना रहे हैं ॥
गोधन तथा अन्य निज-निज धन यथासाध्य ले-लेकर ।
घरकी चिन्ता छोड़ शान्तिसे आश्रय लो गिरिका वर" ॥१२१॥

वाम हस्तकी लघु कनिष्ठिका ऊपर कृष्ण उठाकर ।
उसपर लिये खड़े गिरिवरको, यथा छत्र फैलाकर ॥
गिरि तो बना विशाल छावनी, शुष्क भूमि थी भीतर ।
गोधन-सहित जहाँ आश्रित थे व्रज-बालक-नारी-नर ॥१२२॥

अरे,अचम्भा ! स्थिर गिरिवर कृष्णाङ्गुलिपर दिखलाता ।
सात दिनोंतक रहा, कृष्णको 'गिरिधर' नाम दिलाता ॥
'अद्भुत शक्ति योगकी ऐसी', बात समझमें आती ।
'योगेश्वर श्री कृष्णचन्द्र हैं', यह रहस्य बतलाती ॥१२३॥

तथाकथित विज्ञानविशारद कलिमें मिलनेवाले ।
'है कपोलकल्पित घटना यह' निन्दा करनेवाले ॥
समझें तथ्य, जोड़ लें मनसे कृष्णचन्द्रसे नाता ।
प्राकृत इस विज्ञान-ज्ञानका स्रोत जहाँसे आता ॥१२४॥

देख लेखनी, नन्द-भवनमें सभा लगी है कैसी।
कभी न थी आश्चर्य-भावना प्रकट आज है जैसी॥
कृष्ण-जन्मसे लेकर सारी घटनाओंकी स्मृतिसे।
हुए प्रभावित सभी कृष्णकी नयी अलौकिक कृतिसे॥१२५॥

बोले, "हे व्रजराज! धन्य हम कृष्णचन्द्रको पाकर।
प्रकट सच्चिदानन्द स्वयं ये हैं भूतलपर आकर॥
अगर नहीं, प्राकृत बालकसे असुर कभी मर सकते?
लाखों मिल गिरिवर उखाड़ अङ्गुलिपर हैं रख सकते?"॥१२६॥

बोले नन्द, "गर्गने पहले ही था मुझे बताया।
प्रकट सत्य है इन कृतियोंसे हरिने जिन्हें दिखाया॥
अतः प्रेममें मग्न हुए हम उनका ही गुण गायें।
कृष्ण-पदारविन्दमें हम सब चञ्चरीक बन जायें" ॥१२७॥

अरी कृष्णकी माया कैसी! जिसमें इन्द्र भुलाये।
हुआ ज्ञान जब व्रज-गोपोंका अहित न कुछ कर पाये॥
प्रभुकी कृपा, इन्द्रपद पाया, शक्ति इन्हींसे पायी।
गर्व चूर्ण था, पछताते अब, प्रभु-पद-प्रीति लगायी॥१२८॥

"पाहि, पाहि, शरणागतवत्सल!" दण्ड समान पड़े हैं।
इन्द्र कृष्णके सम्मुख देखो, जोड़े हाथ खड़े हैं॥
"जगन्नियन्ता आप कहाँ हैं, कहाँ क्षुद्र मैं प्राणी।"
रूँधा गला, अश्रु आँखोंमें, रुकी इन्द्रकी वाणी॥१२९॥

कहा कृष्णने, "देवराज-पद मैंने तुम्हें दिया जो।
जगपालक होनेका तुमने था अभिमान किया जो॥
मैं अभिमान सदा भक्षण हूँ करता भक्तजनोंका।
अपनाते मुझको जगमें जो, रक्षक उन अपनोंका॥१३०॥

"इस व्रजके जन, धेनु आदि मृग, थलचर, जलचर जो भी।
कीट, पतंग, गुल्म, तरु, लतिका एक-एक कणको भी॥
जानो मेरा रूप, सदा वे मेरे, मैं उनका हूँ।
अतः तुम्हारे पूज्य सभी वे, मैं अपना जिनका हूँ" ॥१३१॥

कहा इन्द्रने, "इन पूज्योंका जो अपमान किया है।
अभिमानी मैंने इनको जो अतिशय कष्ट दिया है॥
हृदय खोलकर क्षमा चाहता, क्षमा मुझे कर दीजे।
व्रज-जन-सहित, नाथ! अपनाकर मुझे अङ्क भर लीजे॥१३२॥

"हो जाऊँ कृतार्थ"—यों कहकर, फूट-फूट रो-रोकर।
लगे लोटने कृष्णचन्द्र-पद अश्रुधारसे धोकर॥
उठा अङ्क भर लिया कृष्णने, कहा, "इन्द्र! अब जाओ।
मैं वरदान तुम्हें देता हूँ मम पद-रज-रति पाओ" ॥१३३॥

इसी बीचमें देव-मातृगण-प्रेरित गज ऐरावत।
नभ गङ्गाजल भरे सूँडमें हरि-सम्मुख है अवनत॥
इन्द्रदेवकी थी अभिलाषा, 'हरि-अभिषेक करूँ मैं।
निज अपराधोंका मार्जन कर तब सुख-शान्ति लहूँ मैं' ॥१३४॥

नारदादि ऋषि, देव, देवियाँ, किंनरादि सब आकर।
हैं गन्धर्व, अप्सराएँ भी जुटीं सुअवसर पाकर॥
'होना है कृष्णाभिषेक, है कृष्ण हमारा प्यारा।'
सब गायोंके पीन थनोंसे चली दुग्धकी धारा॥१३५॥

वहाँ देख गोलोकवासिनी कामधेनु वृन्दावन।
निज वत्सोंको रक्षित लखकर आयी हैं प्रमुदित मन॥
अति कृतज्ञतापूर्ण हृदयसे वह श्रमबिन्दु हरेगी।
अपनी दुग्ध-धारसे प्रभुका वह अभिषेक करेगी॥१३६॥

कामधेनु, देवेन्द्र आदि मिल दुग्ध, नीरकी धारा।
गिरा रहे हैं कृष्णचन्द्रपर शुभ मन्त्रोंके द्वारा॥
गोविन्दाभिषेकसे जगके तृप्त हुए सब प्राणी।
जगमें उमड़ा आनन्दसिन्धु, क्या कह सकती यह वाणी?॥१३७॥

कर अभिषेक हुए कृतार्थ वे कृष्ण-प्रेम-अधिकारी।
गये मुदित निजधाम, हुई अब वरुणदेवकी बारी॥
वरुणदेवका दास एक था यमुना-जलमें रहता।
असुर आसुरी-वेलामें नित यमुना-कूल विचरता॥१३८॥

एकादशी रात्रिके अन्तिम पहर नन्दजी आये।
स्नान-हेतु यमुनाके जलमें ज्यों-ही पैर बढ़ाये॥
वहीं वरुणका दास असुर था पकड़ नन्दको लाया।
निज स्वामीके पास भवनमें तुरत उन्हें पहुँचाया॥१३९॥

हाहाकार किया गोपोंने, कृष्ण दौड़कर आये।
"बन्धनमुक्त पिताको कर दें", जलमें तुरत समाये॥
कृष्ण-चरणको पकड़ वरुणने क्षमा-याचना कर दी।
अति विनीत हो प्रभु-सेवामें निज समृद्धि सब रख दी॥१४०॥

कृपा वरुणपर हुई, कृष्णने दिव्य रूप दिखलाया।
लौटे नन्द देख गोपोंने उनको गले लगाया॥
'अहो! अलौकिक पुरुष कृष्ण हैं', बात समझमें आयी।
गोपोंने इन पुरुषोत्तममें अविरल प्रीति लगायी॥१४१॥

इसी प्रीतिके फलस्वरूप निज वाञ्छित गोपगणोंको।
दिव्य धाम दिखलाकर हरिने अपनाया स्वजनोंको॥
'व्रज था सारा दिव्य धाम ही', गोपोंने पहचाना।
अन्तर्दृष्टि प्राप्तकर सब कुछ परम ब्रह्ममय माना॥१४२॥

अब ठहर, लेखनी ! क्षणभर, हरिसे कुछ कह लेने दे ।
अपनी बीती बातोंको कहकर मन भर लेने दे ॥
चिरकालव्यापिनी प्रभुकी मायाका चीर पहनकर ।
मैं उलझ रहा काँटोंमें थक-थककर, कष्ट सहनकर ॥१४३॥

मायाका चीर हरणकर, अब नाथ ! मुझे अपनाओ ।
जग-जल-झंझावातोंसे, मुझको भी नाथ ! बचाओ ॥
निज दिव्य धामको तुमने स्वजनोंको था दिखलाया ।
मुझको भी वहीं बुलाओ, जैसे था उन्हें बुलाया ॥१४४॥
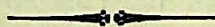
सप्तम सर्ग

लेखनी ! यह तेरा मन-मोर नाचता क्यों ? कैसा उल्लास ?
कहाँ है पाया पावस ? बोल, कहाँ है श्याम-घटा-आभास ?
अहो, व्रजबालाओंके शान्त हृदयमें पावस है दिन-रात ।
श्यामसुन्दर हैं श्याम पयोद, बनाते प्रेम-सुधा बरसात ॥ १ ॥

हृदयपर रिमझिम-रिमझिम शब्द, प्रेम बूँदोंकी अविरल धार ।
बनाते हैं रहते, सुन, मौन, उमड़ता देखो पारावार ॥
अरी, तू अपने मनके साथ, लेखनी ! थिरक-थिरककर नाच ।
बता दे जगका नाता झूठ, कृष्णका प्रेम एक है साँच ॥ २ ॥

जगत है मृग-मरीचिकारूप, बताता है ऐसा वेदान्त ।
कृष्ण हैं चिन्मय ब्रह्मस्वरूप, यही है संतोंका सिद्धान्त ॥
जगत है नश्वर मायिक वस्तु, कृष्ण हैं शाश्वत मायातीत ।
कहाँ यह कर्कश शब्द 'अनित्य', कहाँ वह मधुर नित्य संगीत ॥ ३ ॥

जगतमें स्थूल देहमें चर्म, मेद एवं मज्जा है, रक्त ।
अस्थि-पञ्जरमें जुटकर मांस, इन्हींमें जीव, हाय ! संसक्त ॥
पूर्ण है चिन्मय* कृष्ण-शरीर, शून्य जन्मादिक जहाँ विकार ।
अतः वह निर्विकार निष्कल्प, संत सब करते हैं स्वीकार ॥ ४ ॥

---

* हम जीवोंके शरीर जड पञ्चभूतोंसे बने हुए हैं, जबकि उसके भीतर रहनेवाला आत्मा चेतन है । भगवान्‌का दिव्य विग्रह वैसा नहीं है, उनमें शरीर-शरीरीका भेद नहीं है । उनका सब कुछ चिन्मय है ।

जीवकी सभी इन्द्रियाँ कार्य एक ही कर सकतीं सम्पन्न ।
यथा आँखें सकती हैं देख, कर्ण हैं सुननेमें व्युत्पन्न ॥
कृष्णकी सभी इन्द्रियाँ कार्य सभी कर सकती हैं सम्पन्न ।
कृष्णकी आँखें सकतीं बोल, कर्ण हैं चलनेमें व्युत्पन्न ॥ ५ ॥

कृष्णका श्रीविग्रह-वैचित्र्य, कृष्णका अङ्ग-अङ्ग श्रीकृष्ण ।
कृष्णके रोम-रोममें पूर्ण प्रकट हो सकते हैं श्रीकृष्ण ॥
सृष्टि मानस हो वा सांकल्प, शुक्र-शोणित-निर्मित सब व्यक्त ।
जीव हैं अखिल विश्वमें प्राप्त, कृष्ण तो सदा पूर्ण अव्यक्त ॥ ६ ॥

कृष्णके कर्ण, नासिका, नेत्र, सर्वतः त्वक्, रसना हैं व्याप्त ।
अरे, ये कर्मेन्द्रिय हस्तादि उन्हें सर्वत्र दीखते प्राप्त ॥
महाभारत-आहवके पूर्व, अहो ! था यह विराट ही रूप ।
जिसे अर्जुनने देखा भीत जगतमें वैसा दृश्य अनूप ॥ ७ ॥

देख लो, वही पुरातन ब्रह्म दिव्यतम और मधुरतम भाव
दिखानेको तत्पर हैं पार लगानेको भक्तोंकी नाव ॥
प्रतिज्ञा की थी हरिने, 'चीर-हरणके बाद करूँगा पूर्ण–
गोपियोंकी अभिलाषा', अहो ! मदनका मद करना था चूर्ण ॥ ८ ॥

मदन सुन्दर प्रसूनके पाँच लिये बाणोंको अपने हाथ
शारदी सौम्य पूर्णिमा रात्रि यहाँ आया वसन्तके साथ ॥
घूमता है अनङ्ग पर व्यर्थ, नहीं उसका प्रभाव व्रज-बीच ।
गोपियोंके मन अपनी ओर, भला, क्या सकता है वह खींच ? ॥ ९ ॥

क्षुद्र जगके मनको मथ डाल, अरे मन्मथ ! है तेरी शक्ति ।
नहीं कर सकता सीमा पार, जहाँ आरम्भ कृष्णकी भक्ति ॥
चरम सीमापर पहुँची भक्ति प्रेमरूपाका थीं आदर्श ।
असम्भव था छूना भी जिन्हें, मदन क्या कर सकता संघर्ष ? ॥१०॥

मदन ! अब कालिन्दीके कूल, चलो लेकर वसन्तको साथ ।
सुधाकरकी किरणोंमें स्नात, सुधामय मुरलीको ले हाथ ॥
खड़े उस बालकको तो देख ! अवस्था है केवल दस वर्ष ।
उसे तुम सकते हो पहचान? उसीसे लेना है संघर्ष ॥११॥

अहो, मधुमय किरणोंका जाल बिछाया है मयङ्कने आज ।
जहाँ खग मन्मथका मन-पंख फँसा है खोकर अपनी लाज ॥
शरदकी दिव्य रात्रियाँ देख भर रहा बालक उनमें प्राण ।
सृष्टिकर्त्ता ज्यों अपनी दृष्टि फेरता कर जगका निर्माण ॥१२॥

सुधाकी धारासे अभिषिक्त मल्लिकाके पुष्पोंके बीच ।
छेड़कर अद्भुत मुरली-तान रहा है बालक मनको खींच ॥
पराजित रे मनोज ! तुम घूम-घूमकर देख दृश्य यह आज ।
दिव्यतम अप्राकृत जो रास रचाता निखिल विश्व नटराज ॥१३॥

दिशा प्राची माताकी गोद रमाका आनन है या चन्द्र ?
रमापतिके हैं नेत्र चकोर मग्न हो देख रहा योगीन्द्र ॥
सुधाधर-निस्सृत सुसुधा खींच ला रहे हैं किरणोंके तार ।
कृष्ण-अधरामृतसे मिल एक बनाते अनुपम रस-आगार ॥१४॥

वस्तुतः अलग नहीं है चन्द्र, नहीं है वनकी शोभा अन्य ।
प्रकट इन रूपोंमें श्रीकृष्ण, आजका वृन्दावन है धन्य ॥
"रसो वै सः" निमित्त हैं कृष्ण, रासके उपादान भी एक ।
कृष्ण ही कारण दोनों जान किये हैं धारण रूप अनेक ॥१५॥

रासके आस्वादक-आस्वाद्य कृष्ण हैं लीला एवं धाम ।
स्वयं बन आलम्बनका रूप कर रहे उद्दीपनका काम ॥
अरे ! यह अद्भुत, मायातीत जगतसे, चिन्मयसे भी पार ।
रास है महाभावमें दृष्ट, जहाँ है हरिका नित्यागार ॥१६॥

मोक्षतकको सकतीं जो त्याग-गोपियोंका, बस, है अधिकार।
प्रेमका अन्तरङ्गतम भाव रासका एकमात्र है सार॥
भूमिका यहाँ हुई सम्पन्न, रासका अब होता आरम्भ।
उसे हम सुनें समाहितचित्त हृदयको कर नितान्त निर्दम्भ॥१७॥
उठी अब अननुभूत वह दिव्य स्वरोंकी लहरी, मादक नाद।
कृष्णकी मुरलीसे उद्भूत, लिये था प्रेमार्णव-संवाद॥
प्रेमका था ऐसा आह्वान, गोपियोंकी थी गति निर्बाध।
छोड़कर चलीं सभी निज कार्य, पूर्ण होनी थी अन्तिम साध॥१८॥
कर रहीं गो-दोहनका कार्य, रहीं औंटा पय कतिपय अन्य।
पिलातीं निज शिशुओंको दूध और कुछ गुरु-सेवा-रत धन्य॥
कर रहीं अङ्गोंका शृङ्गार और कुछ भजन-भावमें लीन।
गोपियाँ चतुर्वर्गमें लग्न, वस्तुतः सबसे थीं स्वाधीन॥१९॥
चलीं सब प्रेमयोगिनी मुग्ध, सुना ज्यों मुरलीका आह्वान।
अधूरे सब कामोंको छोड़, प्राप्तकर कृष्ण-प्रेमका दान॥
लगायी घरवालोंने रोक, रोक सकता था उनको कौन?
नहीं था निज वस्त्रोंका ध्यान, देहकी सुध-बुध भूली, मौन॥२०॥
भूलकर देह-गेह-सर्वस्व, त्यागकर स्वजनोंका भी नेह।
गोपियाँ प्रेम-राज्य-सिरमौर, नहीं कुछ है इसमें संदेह॥
गोपियाँ मूर्तिमान हैं प्रेम, गोपियाँ मूर्तिमान वैराग्य।
पूर्णता दोनोंकी एकत्र गोपियोंका ही है सौभाग्य॥२१॥
जीवके संचित[1] वा प्रारब्ध[2] शुभाशुभ कर्म यहाँ क्रियमाण[3]।
भोग वा ईश-कृपासे भस्म जभी होते, मिलता निर्वाण॥

१—अनादि कालसे जिनका फल अभीतक भोगा नहीं गया है और जो संस्काररूपसे अन्तःकरणमें संचित हैं, उन्हीं कर्मोंका नाम है 'संचित'।

२—संचित कर्मोंकी विपुल राशिमेंसे जिन कर्मोंका फलभोग वर्तमान जन्ममें प्रारम्भ हो गया है, उन्हींका नाम है 'प्रारब्ध'।

३—जो कर्म वर्तमान जन्ममें किये जाकर संचित कर्म-राशिमें जमा होते जा रहे हैं, उनका नाम है 'क्रियमाण'।

गोपियाँ ये सब थीं उन्मुक्त, कर्म-बन्धन थे इनके छिन्न।
प्राप्त थे केवल नारी रूप, वस्तुतः नहीं कृष्णसे भिन्न ॥२२॥

गोपियाँ कुछ ऐसी थीं, शेष बचे थे जिनके फलके भोग।
लिया जब घरवालोंने रोक, कृष्णसे हो कैसे संयोग?
मिलन-आशासे प्राप्त अपार सुखोंसे हुए पुण्य-फलभुक्त।
विरहकी तीव्र यातना पाप-फलोंका अन्त, हो गयीं मुक्त ॥२३॥

त्रिविध देहोंसे होता मुक्त, जीव तब करता संसृति पार।
अरे, उस सीमासे भी पार गोपियोंने पाया अधिकार ॥
नहीं थे स्थूल[1], नहीं थे सूक्ष्म[2], नहीं थे कारण[3] उनके देह।
योगमायासे भावशरीर[4] रास-हित पाये निस्संदेह ॥२४॥

१—एक जन्ममें फलभोगके लिये प्राप्त होनेवाले पाञ्चभौतिक रक्त-मांसमय स्थूल पिण्डका नाम है—'स्थूलशरीर'।

२—मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय एवं पञ्च प्राण—इन १६ सूक्ष्म तत्त्वोंसे बने हुए 'इन्द्रियागोचर' शरीरका नाम है—सूक्ष्मशरीर या लिङ्गशरीर, जो मृत्युके समय स्थूलशरीरमेंसे निकलकर जाता है और पुनः प्राप्त होनेवाले स्थूलशरीरमें प्रवेश करता है और मोक्ष होनेपर जिसका अव्याकृत प्रकृतिमें लय हो जाता है।

३ प्रकृति या अज्ञानका नाम है—कारणशरीर। सुषुप्ति अवस्थामें तथा प्रलयकालमें जीव इसी शरीरमें स्थित रहता है।

४ 'भावदेह' उस अप्राकृत देहका नाम है, जिससे परम भाग्यवान् भगवत्-प्रेमीजन दिव्यातिदिव्य भगवल्लीलामें प्रविष्ट होकर लीलारसका आस्वादन करते हैं। यह देह स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण—तीनों प्राकृत देहोंसे भिन्न, विशुद्ध भावमय होता है, व्रजदेवियाँ श्यामसुन्दरके वेणुनादसे आकृष्ट होकर इसी देहसे उनके पास गयी थीं और रासलीलामें सम्मिलित हुई थीं, जबकि उनके स्थूलशरीर वहीं अपने-अपने पतियोंके पास लेटे हुए थे।

गोपियाँ जुटीं कृष्णके पास, नहीं थी उनकी संख्या गण्य।
नहीं देखा था वैसा कभी कृष्णका जो अद्भुत लावण्य॥
स्वयं जो सुन्दरताका सिन्धु, बिन्दु ही जिसका एक समर्थ।
बनानेमें सुन्दर यह विश्व, यहाँ संदेह मात्र है व्यर्थ॥२५॥

दिखाते ऊपर विस्मय-भाव गोपियोंसे बोले व्रजराज,
"तुम्हारा स्वागत है, निष्पाप! कुशल तो सारे व्रजमें आज?
समय है रात, गृहोंसे दूर वनोंमें क्यों आयीं धर्मज्ञ?
नारियोंमें तुम सब हो श्रेष्ठ, सनातन मर्यादा-मर्मज्ञ॥२६॥

"वनोंकी शोभासे आकृष्ट, देखना उसको ही अभिप्रेत।
देखकर लौटो व्रजमें शीघ्र, ध्यान धर धर्मशास्त्र-संकेत॥
स्वपतिकी सेवा है सर्वोच्च, तथा उनके स्वजनोंका मान।
सनातन है सतियोंका धर्म, उचित है इसपर देना ध्यान॥२७॥

"अहो, तुम सद्गृहिणी हो सौम्य, आर्य ललनाओंका है धर्म।
स्वर्ग वा मुक्ति-हेतु सत्कार्य सदा करते रहना है कर्म॥
जानता मुझसे करती प्रेम, प्रेम-हित मर्यादाका सेतु
करो मत उल्लङ्घन, गृह-कार्य करो सब ईश-प्रेमके हेतु॥२८॥

"गोपियो! अब विलम्ब है व्यर्थ; रात्रिमें आना अनुचित जान—
शीघ्र लौटो अब व्रजकी ओर, करो मत स्वजनोंका अपमान"॥
अधोमुख, हाय! गोपियाँ मौन, सुन रही थीं प्रियतमकी बात।
मिलेगी प्रेमामृतकी वृष्टि, वहाँपर पाया वज्राघात॥२९॥

निराशा-तप्त हृदयका रक्त बना आँसू आँखोंके द्वार।
छलक, काजलको धोकर, हाय! स्तनोंपर गिरता बारंबार॥
निकट आनेपर भी जब, हाय! कर रहे प्रियतम हमको दूर।
गले रूँधे, आँसूको पोंछ हृदय थामे चिन्तासे चूर॥३०॥

गोपियाँ बोलीं, "प्रियतम ! आप कर रहे हैं हमको उपदेश ।
यहाँ आना अनुचित कह आप दे रहे जाने क्या आदेश ॥
शास्त्रकी चर्चा करके आप हमें समझाते हैं; पर, नाथ !
न चलते पैर न उठते हाथ, नहीं है चित्त हमारे साथ ॥३१॥

"लगी थीं कामोंमें निश्चिन्त सुना जब मुरलीका आह्वान ।
नहीं थी शक्ति,नहीं था सह्य तनिक भी प्रियतमसे व्यवधान ॥
पिता-भ्राता-सुत-पतिका प्रेम, सास-श्वशुरादिक निजजन नेह—
सभी न्योछावर तुमपर,नाथ ! नहीं है अपना धन-जन-गेह ॥३२॥

"नहीं है इच्छा—जायें स्वर्ग, नहीं है मोक्ष-कामना, नाथ !
हमारे मन-षट्पद ये नित्य रहें तेरे चरणाम्बुज साथ ॥
पितामें, मातामें तुम एक, बन्धुमें, पतिमें भी तुम एक ।
सभी जीवोंमें तुम हो एक, एक होकर बन रहे अनेक ॥३३॥

"अचरमें, चरमें, तुम ही एक व्याप्त हो अणु-अणुमें सर्वत्र ।
वहाँ तुम व्रजमें भी हो प्राप्त, बता दो कहाँ जायँ अन्यत्र ?
जानती पूर्ण सच्चिदानन्द तुम्हींने लिया कृष्ण-अवतार ।
हमें तब क्यों छलते हो, नाथ ! करो हम सबको अङ्गीकार ॥३४॥

"तिरस्कृत तुमसे होकर,नाथ ! नहीं हम जी सकतीं,हा हन्त !
विमुख हो जाओगे यदि, कृष्ण ! हमारे प्राणोंका है अन्त ॥
सभी धर्मोंका आश्रय त्याग, कृष्ण ! हम शरणागत हैं दीन ।
अहो ! तुम प्रेमार्णव निस्सीम; नहीं तुम त्यागो, हम हैं मीन ॥३५॥

"तड़पकर मर जाना जो ठीक, तड़पकर मर जाने दो, नाथ !
जिलाना हो तुमको स्वीकार,जिला दो, रख लो अपने साथ" ॥
गोपियोंकी बातें सुन कृष्ण मौन ही बने रहे, यह देख—
पड़ीं मूर्च्छित वे वसुधा-गोद, दशाका कौन करे उल्लेख ॥३६॥

कृष्णने धारण करके रूप गोपियोंकी संख्या-अनुसार ।
उठाया एक-एकको गोद, धन्य यह योगेश्वरका प्यार !
अहो, वह प्रियतमका था स्पर्श, कहें वा उसे जीवनी शक्ति ।
खुलीं उनकीं आँखें कृतकृत्य, धन्य है उनकी प्रेमाभक्ति ! ॥३७॥

कृष्ण तब बोले, "तुमसे हार, गोपियो ! मैं करता स्वीकार ।
ऋणी मैं बना तुम्हारा नित्य, तुम्हें करता हूँ अङ्गीकार ॥
अहो!दुस्त्यज स्वजनोंको छोड़,आर्यपथका भी करके त्याग ।
यहाँ आयीं, सर्वोत्तम सिद्ध हुआ यह मेरे प्रति अनुराग" ॥३८॥

रमण परमात्मा आत्माराम शुद्धतम आत्माओंके साथ ।
सर्वथा काम-वासना-शून्य करेंगे नटवर गोपीनाथ ॥
विकारोंके कारण हों प्राप्त, किंतु जो अविचल हों, वे धीर ।
धीरताके उद्गम हैं कृष्ण, धीरतामें गोपीजन वीर ॥३९॥

हुआ अब क्रीड़ाका आरम्भ, वनोंमें विचरण था स्वच्छन्द ।
चित्तकी शुद्ध वृत्तियाँ प्राप्त कर रहीं अनुपम परमानन्द ॥
कभी हैं भाग रहे श्रीकृष्ण, गोपियाँ उन्हें पकड़तीं हृष्ट ।
कभी वे छिप जाते तरु ओट, कभी वे हो जाते हैं दृष्ट ॥४०॥

गोपियाँ बोलीं होकर शान्त, "मधुर यह मुरली है, व्रजराज !
हमें क्या दोगे, प्यारे कृष्ण ! बजाना चाह रही हैं आज ॥
देहपर पीताम्बर यह सौम्य,भालपर मोर-मुकुटका साज ।
अगर तुम हमको दे दो, कृष्ण!कृष्ण हम भी बन जायें आज"॥४१॥

कृष्ण तब बोले, "केवल वेष बाहरी पानेकी क्यों चाह ?
अहो ! तुम भीतरसे हो कृष्ण, नहीं है तुमको अपनी थाह ॥
देख, मैं गोपी, तुम सब कृष्ण, लखें हम निज परिवर्तित रूप ।
कृष्ण-गोपीका यह तादात्म्य उपस्थित है आदर्श अनूप ॥४२॥

"नहीं मैं गोपी, मैं हूँ कृष्ण, कृष्ण ही हैं गोपी", यह देख।
गोपियोंके मानसका भाव लेखनी कर सकती उल्लेख ?
देहपर पीताम्बर है सौम्य, भालपर मोर-मुकुटका साज।
बजाती है मुरली प्रत्येक गोपिका बनी हुई युवराज ॥४३॥

बजातीं मुरली, आँखें बंद हुईं, सब थीं आनन्द-विभोर।
खुलीं जब आँखें, देखा मुग्ध हँस रहे सम्मुख नन्दकिशोर॥
गोपियोंने पाया निजरूप, सभी थीं विस्मित करके याद।
सुनाया था मुरलीने अभी उन्हें जो अद्भुत अनहद[1] नाद ॥४४॥

पुनः अब लगीं खेलने खेल कृष्णके साथ गोपियाँ धन्य।
विश्वमें इनसे बढ़कर, भला, कौन है भाग्यशालिनी अन्य ?
सभी आयीं प्रियतमके साथ रम्य यमुनाके सैकत तीर।
तरंगोंसे स्वागतकर प्राप्त किया श्रम दूर पानकर नीर ॥४५॥

आज तुम, कालिन्दी ! हो धन्य, तुम्हारा धन्य-धन्य है कूल।
तुम्हारे वक्षःस्थलपर प्रेम-केलियाँ करता जगका मूल॥
गोपियोंसे खेलोंमें हार, कृष्ण जब हो जाते थे श्रान्त।
सुला अङ्कोंमें आँचल फेर व्यजनसे करतीं उनको शान्त ॥४६॥

सोचती थी गोपी प्रत्येक, "कृष्ण हैं पड़े हमारे अङ्क"।
मिलन था दिव्य, मिला आनन्द धनदका धन पाकर ज्यों रङ्क॥
'हमारे वशीभूत हैं कृष्ण', गोपियोंमें मदका संचार।
हुआ ज्यों, देखो, अन्तर्धान हुए आँखोंसे प्राणाधार ॥४७॥

---

१ अनहद (अनाहत) नाद उस गुञ्जारव-सदृश अस्पष्ट ध्वनिको कहते हैं, जो शरीरके भीतर श्वास-प्रश्वासकी गतिके कारण निरन्तर होती रहती है और जिसको हम दोनों कान मूँदनेपर ही सुन सकते हैं।

भुलाकर मणिको जैसे सर्प, नीरसे बाहर जैसे मीन।
कृष्णसे बिछुड़ीं, देखो, हाय! गोपियाँ तड़प रही हैं दीन॥
'हमारे वशमें हैं श्रीकृष्ण', हाय यह चूर हुआ! अभिमान।
हुईं व्रजबालाएँ उन्मत्त, खो गया जड-चेतनका ज्ञान॥४८॥

पूछतीं वृक्षोंसे उन्मत्त, "अहो अश्वत्थ! अहो न्यग्रोध!
कहाँ हैं कृष्ण?कहो तो नीप!कहाँ हैं प्रियतम?है क्या बोध?
बकुल, हे असन, अहो पुंनाग, पनस हे, पाटल, अहो अशोक!
इधरसे भागे हैं क्या कृष्ण? बताकर हरो हमारा शोक॥४९॥

"अहो तुम कोविदार, हे निम्ब,अहो कुरबक, हे नाग, रसाल!
प्राण हैं व्याकुल, भागे कृष्ण, बता सकते प्रियतमका हाल?
अहो जामुन, हे प्लक्ष, प्रियाल, बिल्व हे, हम सबका संताप—
कृष्णसे कहना, उनके हेतु कर रही हम हैं यहाँ विलाप॥५०॥

"मालती, जूही, चम्पा! देख, यूथिके, जाति, मल्लिके, बोल।
अहो तुलसी, तेरा प्रिय कान्त कृष्ण है कहाँ?भेद यह खोल॥
सखी, ये पुरुष-जातिके वृक्ष कृष्ण-जैसे कठोर हैं जान।
तुम्हारी तो है नारी जाति, नारियोंका है तुमको ज्ञान॥५१॥

"लताएँ! इन वृक्षोंको छोड़ सुनो कुछ हम विरहिनकी बात।
चलो तो खोजें, प्यारे कृष्ण कहाँ हैं भागे आधी रात॥
अहो काले प्रस्तरके खण्ड! कृष्णको देखा है इस ओर।
तुम्हारे-जैसा ही है वर्ण, तुम्हारे-जैसा हृदय कठोर॥५२॥

"यहाँ क्या आये हैं श्रीकृष्ण? कहो, निर्मल नालेके नीर!
पूछना आगे जो मिल जायँ, गोपियोंको क्यों मारा तीर?
अरी निर्झरिणी, झर-झर शब्द बंदकर देख हमारा वेष।
बनीं निर्झरिणी आँखें उष्ण, कृष्णसे कह देना संदेश"॥५३॥

गोपियाँ विह्वल होकर 'कृष्ण, कृष्ण' कह ढूँढ़ रहीं सर्वत्र।
सोचतीं किंकर्त्तव्यविमूढ 'कहीं वे भाग गये अन्यत्र' ॥
मिला अब उनको वन-पथ एक, दृष्ट थे चिह्न चरणके चार।
इसी पथसे वे राधा-संग गये हैं प्रियतम प्राणाधार ॥५४॥

गोपियाँ कायव्यूहस्वरूप सभी थीं राधाके ही अङ्ग।
अतः था राधामाधव-सङ्ग, निखिल गोपीजन माधव-सङ्ग॥
राधिका है प्रियतमके साथ, सोचकर हुआ उन्हें संतोष।
किंतु क्यों छलकर भागे कृष्ण—यही था दुःख, यही था रोष ॥५५॥

चरण-चिह्नोंको आगे देख गोपियाँ बढ़ीं सभी उस ओर।
हुई आशा, 'सम्भव है पुनः हमें वे मिल जायें चितचोर' ॥
मिला अब नया उन्हें उत्साह, लगीं आगे बढ़ने कुछ और।
नहीं जबतक मिल जाते कृष्ण, शान्तिका कहाँ मिलेगा ठौर॥५६॥

मिले राधाके ही पदचिह्न गोपियाँ जब आयीं कुछ दूर।
बढ़ीं कुछ आगे रोती विकल राधिका थी चिन्तामें चूर॥
गोपियाँ बोलीं, "तुमको छोड़ कहाँ वे गये नन्दके लाल?
राधिके! हम सखियोंके प्राण! तुम्हारा भी ऐसा ही हाल? ॥५७॥

"तुम्हीं तो मूर्तिमती हो शक्ति ह्लादिनी माधवकी यह भेद।
जानती हम सखियाँ हैं, अतः कृष्णके लिये हमें है खेद॥
राधिके! माधवका आह्लाद निहित है सदा तुम्हारे हाथ।
इसीमें चरम तृप्ति है हमें, मिला दें तुमको माधव साथ" ॥५८॥

राधिका बोलीं, "प्रियतम संग अकेली लाकर मुझको छोड़।
कहाँ वे गये, बताये कौन? प्रेमका ऐसा नाता जोड़॥
अरी सखियो! मेरा था गर्व, कृष्ण हैं मुझपर अति आसक्त।
दिखाये मैंने जो मद-मान, उन्हींका सम्मुख है फल व्यक्त ॥५९॥

"कहा मैंने मदसे, 'हे कृष्ण ! नहीं पैदल चलनेकी शक्ति ।
मुझे कंधेपर लेकर चलो, अगर मुझमें होवे अनुरक्ति' ॥
बैठकर कृष्ण हुए तैयार, बढ़ा मेरे मनका अभिमान ।
किंतु वह टूटा मदका स्वप्न, हुए झट प्रियतम अन्तर्धान" ॥६०॥

राधिका फूट-फूटकर हाय ! लगीं रोने, समझाये कौन ?
दशा-वर्णन करनेमें क्षुद्र लेखनी हो जाती है मौन ॥
गोपियाँ विरह-व्यथा-उन्मत्त हुईं, अब आया भावावेश ।
नहीं था निज वस्त्रोंका ज्ञान, चढ़ी आँखें, बिखरे थे केश ॥६१॥

कृष्णकी लीलाओंका नाट्य लगीं अब करने गोपीवृन्द ।
वहीं अन्तर्हित होकर जिसे मुग्ध थे देख रहे गोविन्द ॥
एक गोपी बन जाती कृष्ण, दूसरीको देती वह मार ।
दिखाती अभिनय हरिने यथा किया था असुरोंका संहार ॥६२॥

दिखाया ब्रह्माजीका मोह, दिखाया कालियका मद-भङ्ग ।
दिखाया गोचारणका दृश्य यथा हरिका मित्रोंके सङ्ग ॥
दिखाया इन्द्रदेवका कोप, उठा ऊपर चादरको तान ।
उठाया था जैसे गिरिराज, बचाये थे स्वजनोंके प्राण ॥६३॥

गोपियोंने हो भावोन्मत्त किये ऐसे अभिनय सब अन्य ।
छिपे दर्शक थे प्रियतम कृष्ण, प्रकट तरु-लता-गुल्म-पशु वन्य ॥
गोपियाँ लगीं खोजने पुनः, बची थी थोड़ी-सी अब रात ।
लौट आयीं यमुनाके तीर हृदयपर लिये विरहका घात ॥६४॥

नहीं कोई उपाय था शेष, सदा हारेको है हरिनाम ।
गोपियोंके केवल थे कृष्ण, नहीं था जगसे उनको काम ॥
प्रार्थनामें होकर तल्लीन गोपियाँ लगीं सुनाने गीत ।
हृदयके भावोंको पहचान प्राणप्रिय निश्चय होंगे प्रीत ॥६५॥

"उसी दिनसे व्रज-मण्डल धन्य हुआ, जिस दिन था आविर्भाव।
धन्य वह नन्द-गेह था, प्रभो ! धन्य था वह गोकुलका गाँव ॥
बचाया व्रज-मण्डलको, विभो ! सदा सब विपदाएँ दीं टाल।
बुलाकर निज वंशीसे स्वयं किया हम सबको क्यों वेहाल ? ॥६६॥

"तुम्हें हम अन्तर्यामी मान जी रहीं, देव ! तुम्हारे हेतु।
मिलेंगे—इस आशासे अभी नहीं टूटा है धीरज-सेतु ॥
टूट जानेके पहले इसे बचा लो शुद्ध भाव पहचान।
नहीं तो नारी-हत्या-दोष लगेगा, नहीं रहेंगे प्रान ॥६७॥

"हुए प्रार्थित ब्रह्मासे, विभो ! प्रकट हो हरनेको भूभार।
नन्दके सुत हो केवल नहीं, जगत-हित लिया कृष्ण-अवतार ॥
अनेकों असुरोंका संहार हुआ, इससे जगका कल्याण।
अगर होता हो जगको लाभ, गोपियोंके भी ले लो प्राण ॥६८॥

"तुम्हारी मायासे भयभीत शरणमें आता है जब जीव।
दुरत्यय मायाको कर पार शान्ति वह पाता, अहो ! अतीव ॥
उसी मायासे प्रेरित, प्रभो ! गर्वसे युक्त हुई थी बुद्धि।
चरण माथेपर रखकर, ईश ! धूलसे उसकी कर दो शुद्धि ॥६९॥

"तुम्हारे चरणोंमें है शक्ति, अकथ हैं सभी तुम्हारे कृत्य।
चञ्चला होकर भी आसक्त चरणमें रहती कमला नित्य ॥
उन्हीं पावन चरणोंको, प्रभो ! उरोजोंपर रख दो आ आज।
नाथने अपनाया है हमें, हमारी यहीं बचा लो लाज ॥७०॥

"तुम्हें हम गोचारणके पूर्व, तुम्हें हम गोचारणके बाद—
देखकर भी अतृप्त थीं और तुम्हारी नित्य बनी थी याद ॥
किंतु आशा रहती थी नित्य, नाथ हैं व्रज-मण्डलमें यहीं।
आज हम ढूँढ़ें तुमको कहाँ, पता भी तो चलता है नहीं" ॥७१॥

गोपियाँ यों गा-गाकर गीत, धीरताकी सीमाको पार–
कर चुकीं; अब मरना था शेष, मचा अब अन्तिम हाहाकार ॥
विकल हो फूट-फूटकर, हाय ! लगीं रोने, जायें किस ओर ?
प्रकट मन्मथ-मन्मथ थे वहाँ सामने हँसते नन्दकिशोर ॥७२॥

लेखनी ! है क्या तुममें शक्ति ? गोपियोंके मानसका भाव–
लिखोगी ? कैसे एकाएक मिट गया, उनके मनका घाव ?
कृष्णने कहा, "गोपियो ! आज क्षमा कर दो मेरा अपराध ।
दिया है मैंने तुमको कष्ट, मृगीको देता जैसे व्याध" ॥७३॥
गोपियाँ बोलीं, "प्रियतम, नाथ ! तनिक मत लाना मनमें रोष ।

दुःखसे होकर अत्युद्विग्न लगाया हमने तुमको दोष ॥
अगर हम मर जातीं भी ईश विरहमें घुल-घुलकर भर रात ।
वस्तुतः इसपर भी निर्दोष सदा प्रियतम थे, सच है बात" ॥७४॥

बिछाया वसनासन कृष्णार्थ गोपियोंने यमुनाके तीर–
गोपियोंके अङ्गोंसे स्पृष्ट, नहीं वह था साधारण चीर ॥
गोपियोंसे घिरकर श्रीकृष्ण सुशोभित हैं ऐसे मध्यस्थ ।
घिरा ताराओंसे पूर्णेन्दु सुशोभित होता ज्यों गगनस्थ ॥७५॥

गोपियाँ बोलीं, "जगमें प्राप्त त्रिविध जीवोंमें कुछकी रीति ।
प्रीति करनेवाले जो लोग, उन्हींसे होती उनकी प्रीति ॥
दूसरे हैं ऐसे कुछ लोग—प्रेमियोंकी केवल क्या बात,
नहीं जो करते उनसे स्नेह, स्नेह उनसे भी उनका ख्यात ॥७६॥

"तीसरे हैं ऐसे कुछ लोग, करो वा नहीं करो तुम प्रीति ।
सर्वथा उदासीनका भाव रखेंगे—ऐसी उनकी नीति ॥
बता दो, इन तीनोंमें, नाथ ! कौन है सर्वोत्तम व्यवहार ?
पूछना हमें यही है प्रश्न, प्रेम ही है इसका आधार" ॥७७॥

कृष्णने कहा, "गोपियो ! कूट प्रश्न हैं पूछे तुमने आज ।
तुम्हारे ऊपर मेरा प्रेम जाननेका है सुन्दर व्याज ॥
अहो, वह तो अथाह है प्रेम, नहीं होगा उसका अनुमान ।
किया जो हमसे तुमने प्रश्न, सुनो उत्तर अब देकर ध्यान ॥७८॥

"स्नेह करनेवालोंसे स्नेह किया जो केवल, वह व्यवहार ।
स्वार्थमय कहते उसको मोह, क्षुद्र जगका वैसा आचार ॥
स्नेह तुम करो, करो वा नहीं, किंतु जो तुमसे करते स्नेह ।
प्राकृतिक करते ऐसा स्नेह पिता-मातादिक निस्संदेह ॥७९॥

"किंतु अपने स्नेहीसे स्नेह नहीं करते, वे चार प्रकार ।
उन्हींमें दो उत्तम, दो नीच, बताता अपना यहाँ विचार ॥
एक हैं पूर्णकाम नरश्रेष्ठ, दूसरे मुनिजन आत्माराम ।
तीसरे गुरुके द्रोही नीच और चौथे कृतघ्न अघधाम ॥८०॥

"निखिल इस सृष्टिमात्रके जीव तुल्य अपने प्यारे हैं, किंतु ।
उन्हें मैं अपनाता यह रीति, व्यथित हों शरणागत जो जन्तु ॥
हुआ मैं तुमसे अन्तर्धान, इसीसे मुझपर है संदेह ।
स्नेह करनेवाले जो जीव नहीं उनपर भी मेरा स्नेह ॥८१॥

"छिपा है इसमें किंतु रहस्य, गूढ़तम यही प्रेमकी रीति ।
प्रेमियोंसे दिखलाकर प्रेम, छिपा लेना फिर उनसे प्रीति ॥
अधनका अर्जित धन हो नष्ट, सदा रखता वह धनमें ध्यान ।
तुम्हारा प्रेम निरन्तर बढ़े इसीसे मैं था अन्तर्धान ॥८२॥

"सदा उत्सुक रहता हूँ, मिले अंश मेरा मुझसे कर प्यार ।
अतः जो मुझसे करता प्रेम, मानता मैं उसका उपकार ॥
गेहका दृढ़तम बन्धन तोड़, प्रेमकर तुमने जो उपकार—
किया मेरा, वह अनुपम वस्तु, न पाऊँगा उससे उद्धार ॥८३॥

"प्राप्तकर देवोंकी भी आयु नहीं इसका बदला है साध्य ।
मानती मुझको प्रियतम, पूज्य, किंतु हो तुम मेरी आराध्य ।।
तुम्हारे भारी ऋणसे मुक्ति नहीं देगा मेरा पुरुषार्थ ।
दयाकर तुम दे सकतीं मुक्ति, मुक्ति देना भी है परमार्थ" ।।८४।।

कृष्णकी वाणी सुन निश्चिन्त गोपियाँ पूर्णकाम विश्रान्त ।
पड़ रही निर्निमेष थी दृष्टि, सामने बैठे थे प्रिय कान्त ।।
पुनः बोले प्रियतम श्रीकृष्ण, "गोपियो ! महारासका नृत्य ।
करूँगा मैं तुम सबके साथ, रमण पूरा होना है नित्य" ।।८५।।

रास-मण्डलकी रचना, अहो ! रचा जो रहे कृष्ण हैं आज ।
जगतको आत्मरमणका पाठ सिखानेका ही तो है व्याज ।।
यथा बालक अपने प्रतिबिम्ब संग हो नाच रहा विभ्रान्त ।
अभी नाचेंगे अपनी मूर्ति गोपिका संग रमाके कान्त ।।८६।।

रास-मण्डलमें गोपी-युग्म-मध्यमें खड़े कृष्ण हैं एक ।
योगमायाका बल है धन्य, एक होकर बन गये अनेक ।।
यथा पीले पत्तोंके बीच श्याम किसलयकी होती भ्रान्ति ।
स्वर्णमय दो मणियोंके मध्य यथा मरकतकी होती कान्ति ।।८७।।

व्योममें श्याम घटा हो मध्य, तडित हो लक्षित दोनों ओर ।
गोपियोंके जोड़ेके बीच हुए लक्षित गोपी-चितचोर ।।
बजी वंशी, नूपुर-झंकार, हुआ वह राग-रागिनी-योग ।
बहा स्वर-लहरीमें संसार, मिटे श्रोतागण-मानस-रोग ।।८८।।

गोपियाँ नृत्य-कलामें दक्ष कर रही हैं प्रियतम-गुणगान ।
इशारेपर वंशीके नाच रही हैं खोकर अपना ज्ञान ।।
अहो! सा, रे, ग, म, प, ध, नी—सप्त स्वरोंमें प्रभुने जो संगीत
सुनाया महारासमें दिव्य, विषय है अकथ वर्णनातीत ।।८९।।

कमरकी लचक, बाहु-विक्षेप, नृत्यमें अद्भुत पद-विन्यास ।
वस्त्रका चञ्चल अञ्चल-छोर, भृकुटिका सुन्दर भाव-विलास ।।
कपोलोंपर कुण्डल हैं डोल रहे, मुखपर है मृदु मुसकान ।
भरा आँखोंमें जादू डाल रहा है मनमें ब्रह्म-ज्ञान ।।६०।।

गिराते हैं प्रसून-उपहार अचंभित गान-वाद्यमें दक्ष ।
अप्सराएँ, किंनर, गन्धर्व, व्योमसे देव-देवियाँ, यक्ष ।।
परस्पर बातें करते मुग्ध—'गोपियोंका दुर्लभ सौभाग्य ।
देखकर रासोत्सवका दृश्य स्वर्ग-सुखसे होता वैराग्य' ।।६१।।

नृत्य करते-करते थक गयीं गोपियाँ, तब बोले भगवान ।
"नृत्य मैं अब करता हूँ बंद, निशाका है प्रायः अवसान ।।
रम्य है कैसा ब्राह्म मुहूर्त ! मन्द मलयानिलसे श्रमबिन्दु ।
हर रही है प्राची वह देख, प्रतीचीमें हँसता है इन्दु ।।६२।।

"अहो ! कलकल ध्वनिसे वह सुनो, सखी कालिन्दीका आह्वान ।
कमलपर गूँज-गूँजकर भृङ्ग तुम्हारा गाते स्वागत-गान ।।
स्वच्छ-सलिला यमुनामें चलें, स्नानकर हम कर लें श्रम दूर ।
खेलकर कालिन्दीके साथ, शान्ति तुम पाओगी भरपूर" ।।६३।।

स्नान-हित उतरीं यमुना-तीर गोपियाँ निज प्रियतमके संग ।
हुई अब जल-क्रीडा आरम्भ, हृदयमें नूतन भरा उमंग ।।
कभी तो जल-धाराके साथ, कभी जल-धाराके विपरीत ।
तैरनेकी बाजीमें हार, कभी गाते हैं नटवर गीत ।।६४।।

गोपियाँ हैं उछालतीं नीर कृष्णपर, उनको लेतीं घेर ।
लगा डुबकी जल भीतर छिपे कृष्ण रह जाते हैं कुछ देर ।।
चरण भीतर धर लेते किसी गोपिकाका, चलती वह भाग ।
'कृष्ण हैं वा कच्छप, जल-जन्तु अन्य है, या है जलका नाग' ।।६५।।

हुलककर हँसते हैं श्रीकृष्ण, पुनः लेते हैं डुबकी मार।
गोपियाँ पुनः खोजतीं उन्हें, कहाँ हैं प्रियतम नन्दकुमार ?
भरी गीले वस्त्रोंमें हवा, बनाकर नीले, पीले, लाल।
गोपियाँ कहतीं, "औंधे घड़े कहाँसे ये आये, गोपाल ?" ॥९६॥

कृष्ण नीचेसे लेते खींच फुचफुचाते बुलबुल्ले देख।
मिटे नश्वर जगकी ज्यों वस्तु, करोगे कितने थे उल्लेख ?
गोपियाँ बोलीं बातें व्यंग, "हमारे घड़े मिटाये व्यर्थ।
करेंगी हम यमुनाको पार, घड़ोंमें थी ऐसी सामर्थ्य" ॥९७॥

कृष्ण बोले, "तुम करतीं पार ? घड़ा धोखा था ज्यों संसार।
मिटाता जो अपना संसार, वही करता भवसागर पार" ॥
इस तरह जल-क्रीडाके बाद स्नानका कार्य हुआ सम्पन्न।
इधर देखो, यमुनाके तीर मनोभव पहुँचा शरणापन्न ॥९८॥

"परीक्षा लेने आया, नाथ ! किया मैंने गुरुतम अपराध।
कहाँ मैं एक क्षुद्र जल-बिन्दु, कहाँ तुम सिन्धु अनन्त, अगाध"॥
विहँसकर तब बोले भगवान, "सदा शरणागतको मैं प्यार
किया करता हूँ—मेरी रीति, लगाता उसका बेड़ा पार ॥९९॥

"रुद्रने भस्म किया था तुम्हें, दिया था रतिको यह वरदान—
तुम्हें होना है मेरा पुत्र, हुआ था शिवका यही विधान ॥
उसे पूरा करना है मुझे, निकट अब आया है वह काल।
बनोगे अब अनङ्ग साकार, शिवाज्ञा कौन सकेगा टाल ?॥१००॥

"सुनो मन्मथ ! मेरा आदेश—रासका यह उत्तम आदर्श।
मनन जो करता मेरा भक्त, नहीं तुम उसको करना स्पर्श" ॥
दण्डवत पड़कर मन्मथ गया, गोपियोंसे बोले भगवान।
"चलो, व्रजमें लौटो, निष्पाप ! बढ़ेगा स्वजनोंमें सम्मान॥१०१॥

"पड़े हैं सबके स्थूल शरीर, गृहोंमें जीवित, किंतु सुषुप्त ।
तुम्हारे ये हैं भाव-शरीर, उन्हींमें जाकर कर दो लुप्त" ॥
न थी जानेकी इच्छा, किंतु बात प्रियतमकी टाले कौन ?
सभी लौटीं प्रियतमके साथ गोपियाँ आयीं व्रजमें मौन ॥१०२॥

किसीको नहीं हुआ संदेह, गोपियाँ थीं पतियोंके पास ।
सनातन परम ब्रह्म हैं कृष्ण, सभीका था ऐसा विश्वास ॥
लेखनी ! कुछ कर लो विश्राम कृष्णसे कहकर मेरी बात ।
गोपियों और कृष्णके साथ जगी हो तुम भी सारी रात ॥१०३॥

कृष्ण ! तुम अन्तर्हृदयकी बातको
जानते हो, क्या छिपा तुमसे, भला ।
मन भरा कामादि दोषोंसे, कहो—
क्या करूँ ? कैसे टलेगी यह बला ? ॥१०४॥

मन फँसा मेरा जगत-जंजालमें,
गोपियोंका प्रेम पाना चाहता ।
पूर्व पश्चिमसे मिले, सम्भव नहीं;
किंतु है सम्भव तुम्हींसे, मानता ॥१०५॥

गोपियोंकी भाँति मेरी भी बने
मर्मका अन्तक विरहकी वेदना ।
जी सकूँ मैं तो तुम्हारे ही लिये,
भाव ही ऐसा हृदयका दो बना ॥१०६॥

रो सकूँ अन्तर्हृदयसे, धो सकूँ
आँसुओंसे क्षुद्र मनकी कालिमा ।
आज जीवन है अमावस-रात ज्यों,
रासकी अक्षय बने वह पूर्णिमा ॥१०७॥

———

अष्टम सर्ग

'अब जगो, लेखनी ! बोलो, सपनेमें क्यों हँसती थी ?
मैंने ऐसा देखा है, मानो तुम कुछ सुनती थी' ॥
जो स्मृतिपटपर अङ्कित था, सपना बनकर वह आया ।
उस रास-दृश्यको उसने फिरसे मुझको दिखलाया ॥ १ ॥
"है कहा कृष्णने मुझसे, 'आगे बढ़ते तुम जाना ।
जिन अंगुलियोंमें रहती हो, उन्हें मुझे पकड़ाना ॥
उन अंगुलियोंको गहकर पहुँचा उसका धर लूँगा ।
यह स्वप्न तुम्हारा है, पर इसको मैं सच कर दूँगा' ॥ २ ॥
आशाका बीज-वपन तो पहलेसे ही मनमें है ।
अंकुर बनकर पौधेमें वह परिवर्तित क्षणमें है ॥
आशाके इस पौधेको तुम, हे विश्वास ! बढ़ाओ ।
मेरी आँखोंसे आँसू लेकर इसको पनपाओ" ॥ ३ ॥
अब चलो लेखनी, देखो वह सरस्वतीकी धारा ।
उस रम्य अम्बिका-वनमें आया है नन्द-दुलारा ॥
आये हैं नन्द-यशोदा, सब गोप-गोपियाँ आईं ।
प्रियतमको क्यों छोड़ेंगी, जो हैं छायाकी नाईं ॥ ४ ॥
माँ सरस्वतीके जलमें सबने मिल अवगाहन कर ।
हरि-पाद-पद्म-रति चाही गौरीशंकर-पूजन कर ॥
पकड़ा है नन्द-चरणको अब महानागने ऐसे ।
कवलित कर लेगा मानो, आया हो अन्तक जैसे ॥ ५ ॥
गोपोंने जली लकड़ियाँ लेकर मारा, फिर भी था—
वह नहीं छोड़ता उनको, मानो अब मरना ही था ॥
हो व्यथित नन्द यों बोले, 'मैं कष्ट महा पाता हूँ ।
हे कृष्ण ! बचाओ अहिसे, कवलित होता जाता हूँ" ॥ ६ ॥

झट दौड़ कृष्णने अहिको पैरोंसे ज्यों ठुकराया।
त्यों देह-मुक्त हो उसने तन विद्याधरका पाया ॥
विद्याधर वह नतमस्तक, करबद्ध प्रणत हो बोला।
निज सर्पयोनि पानेका सब भेद कृष्णसे खोला ॥ ७ ॥

"मुनिवर्य अङ्गिरा-वंशज देखा कुरूप मुनिगणको।
धन-यौवन-गर्वित था मैं, हँस दिया देखकर उनको ॥
अपमानित करके उनको मैंने अपराध किया था।
यह सर्पयोनि पानेका मुनिगणने शाप दिया था ॥ ८ ॥

"यह शाप अनुग्रह ही था, वरदान उन्हींसे पाया।
द्वापरमें श्रीचरणोंसे उद्धार-उपाय बताया" ॥
निजलोक-गमनकी आज्ञा प्रभुसे पाकर विद्याधर।
अब गया सुदर्शन हर्षित, प्रभुको साष्टाङ्ग प्रणति कर ॥ ९ ॥

अब बढ़ो, लेखनी ! देखो उस वृन्दावनकी शोभा।
बलभद्र, कृष्ण, गोपीजनका मन है जिसने लोभा ॥
सब वन-विहार-हित आये, वे राम-श्याम दोनों ही।
हैं छिपे, गोपियाँ हँसती हैं, ढूँढ़ रहीं उनको ही ॥१०॥

यक्षाधिपका सेवक था वह शङ्खचूड झट आकर।
ले चला गोपिकाओंको उलटे पथमें बहकाकर ॥
उन्मार्ग लिये जाता है, यह ज्ञान गोपिकाओंको—
जब हुआ, पुकार रही हैं रक्षक युग-भ्राताओंको ॥११॥

वह भाग चला जब देखा वे राम-श्याम आते हैं।
ज्यों सिंह देख चुपकेसे जम्बूक भाग जाते हैं ॥
भैयाको रक्षक रखकर वे कृष्णचन्द्र जाते हैं।
बस, शङ्खचूडका मस्तक वे काट तुरत लाते हैं ॥१२॥

उसके मस्तककी मणिको बलभद्र-करोंमें देकर—
सकुशल लौटे हैं दोनों व्रजमें सखियोंको लेकर ॥
सखियाँ गाती रहती थीं, नित निज प्रियतम-गुणगाथा ।
उनका तन-मन-धन-जीवन सब कृष्णचन्द्र ही का था ॥१३॥

अब हुआ कंससे प्रेषित आगमन अरिष्टासुरका ।
वह वृषभाकृति भीषण था, था नाद विदारक उरका ॥
व्रजको ध्वंसित कर देगा, ऐसा प्रतीत होता था ।
'हा कृष्ण ! बचाओ, आओ' व्रज ही सारा रोता था ॥१४॥

वह अपनी पूँछ उठाकर, शृङ्गोंको आगे करके—
जब कृष्णचन्द्रपर दौड़ा, सब कम्पित मारे डरके ॥
दोनों सींगोंको धरकर हरिने पीछेको ठेला ।
उलटा धड़ामसे भूपर, मानो हो अन्तिम वेला ॥१५॥

वह फिर चिघाड़ता आया, झपटा हरिके ऊपर यों ।
हो सबल बाजपर झपटा बलहीन लवा पक्षी ज्यों ॥
हरिने उखाड़ सींगोंको पैरोंसे उसे दमनकर ।
मारा, निष्प्राण गिरा वह मुखसे अति रक्त वमनकर ॥ १६॥

हर्षित हो असुर-निधनपर हैं पुष्प अमर बरसाते ।
अब चलो, लेखनी ! आगे, देखो, नारद हैं आते ॥
है कंस महापापीने अपना दरबार सजाया ।
नारदको आया देखा, झट आदरकर बैठाया ॥१७॥

नारद बोले, "हितचिन्तक निज, कंस ! मुझे तुम जानो ।
तुमको बतलाने आया, मेरा कहना सच मानो ॥
वसुदेव-देवकीकी जो घोषित अष्टम थी कन्या ।
वह नन्द-यशोदा-पुत्री सचमुच जानो थी अन्या ॥१८॥

"अष्टम गर्भज जो शिशु था, वह नन्द-गेहमें रहता।
तुम कृष्ण वही है जानो, असुरोंका है संहर्त्ता॥
संकर्षित वसुदेवात्मज उस गर्भ सातवेंसे था।
वह निहित रोहिणीमें हो उत्पन्न उसीमेंसे था॥१९॥

"है वही कृष्णका अग्रज, वलभद्र नाम जिसका है।
दोनों शिशुओंके सम्मुख आनेका बल किसका है?
इन दोनोंने ही मिलकर असुरोंको है संहारा।
है सभी तुम्हारे मित्रोंको दोनोंने ही मारा॥२०॥

"अब सजग, कंस! हो जाओ, आगे तुमको ही भय है।
कर लो उपाय हो कोई, अब काल निकट निश्चय है"॥
असि लिये हाथमें दौड़ा वसुदेव-देवकी-वध-हित।
वह कंस भीत भीतर था, पर बाहर था अति गर्वित॥२१॥

नारदने रोका, "तुमको क्या लाभ, भला, इससे है?
तुम मारो जाकर उसको, मरनेका भय जिससे है"॥
नारदकी बातें सुनकर अब रुका कंस, फिर बोला—
'फिर जकड़ बेड़ियोंको दो, जिनको मैंने था खोला'॥२२॥

वसुदेव-देवकी फिर भी कारागृहमें वंदी बन।
हैं दुःख पा रहे निशिदिन, पुत्रोंमें हैं रखते मन॥
तब कहा कंसने, "भैया केशी! तुम हो बलशाली।
बलभद्र-कृष्णका वध कर रख लो मुखकी यह लाली॥२३॥

"भैया व्योमासुर! तुम भी अवसर पाकर व्रज जाना।
छल-बलसे जैसे भी हो, दोनोंका वध कर आना॥
मैं और उपायोंसे भी अब बाज नहीं आऊँगा।
जब राम-कृष्ण जीवित हैं, तब चैन कहाँ पाऊँगा"॥२४॥

अब लखो, लेखनी ! व्रजमें केशी घोड़ा बन आया।
अपने टापोंसे उसने व्रजमें भूकम्प मचाया॥
ऐसे विशाल घोड़ेके थे शब्द भयंकर कैसे।
शतशः कुलिशोंके युगपत् हों पात हो रहे जैसे॥२५॥

उससे भी घोर भयंकर हरिका गर्जन सुन भारी।
केशी चौंका, सब भूली मन चढ़ी हेकड़ी सारी॥
भयमुक्त हुए व्रजवासी हरिका आश्वासन पाकर।
हरिने फेंका घोड़ेको दो पिछले पैर उठाकर॥२६॥

कुछ दूर गिरा, फिर लौटा, हरिको मानो निगलेगा।
पर एक क्षुद्र सिकता-कण पर्वतको गिरा सकेगा?
झट खुले तुरगके मुखमें हरिने निज हाथ घुसाया।
उसके दाँतोंको तोड़ा, फिर अपना कर फैलाया॥२७॥

कर व्याधि उपेक्षित-जैसा मोटा होता जाता है।
वह अश्व हुआ अति व्याकुल, अब साँस न ले पाता है॥
निष्प्राण गिरा धरणीपर, नभमें दुंदुभियाँ बजतीं।
देवोंकी पुष्पाञ्जलियाँ हरिपर हैं, देख, बरसतीं॥२८॥

हरि-लीला-बलिवेदीपर है व्योमासुर-वध होना।
अब देवोंको हँसना है, सब असुरोंको है रोना॥
नित नये-नये खेलोंको वृन्दावनमें गोचारक–
खेला करते हैं, साथी दो हैं नयनोंके तारक॥२९॥

कुछ बालक भेड़ बने हैं, कुछ रक्षा करनेवाले।
इस नये खेलमें कुछ हैं भेड़ोंको हरनेवाले॥
इस नये खेलमें आया व्योमासुर बालक बनकर।
वह चोर बना, इच्छा थी मैं लाऊँ हरिको हरकर॥३०॥

उन भेड़ बने ग्वालोंको वह चुरा-चुराकर लाता ।
रख-रखकर उन्हें गुफामें वह द्वार बंद कर आता ॥
मौका वह ढूँढ़ रहा था, बलभद्र-कृष्णको हरकर ।
तब बंद गुफाको कर दूँ, दोनोंको भीतर धरकर ॥३१॥

हो भूख-प्याससे व्याकुल दोनोंका मरना निश्चय ।
दोनों यदि मर जायें तो कंस बनें फिर निर्भय ॥
पर अन्तर्यामी हरिसे क्या यह छल था छिपनेका ।
अब अन्त शीघ्र है उसके मिथ्या इस सुख-सपनेका ॥३२॥

व्योमासुर चला छिपाने उन भेड़ बने हरिको ज्यों ।
अत्यन्त कुपित हो हरिने उसको मारा घूँसा त्यों ॥
वह घूँसा था या पवि था, व्याकुल भागा व्योमासुर ।
पर पकड़ दबोचा हरिने तब भग्न हुआ उसका उर ॥३३॥

निष्प्राण पड़ा वह कैसे है लोट रहा धरणीपर ।
है मृत्युकालमें उसने दिखलाया रूप भयंकर ॥
काले शरीरमें मुखसे चल रहा रक्त-फव्वारा ।
काले गिरिसे निकली हो ज्यों द्रवित गेरुकी धारा ॥३४॥

व्योमासुर-निधनोत्सवमें बजतीं नभमें दुंदुभियाँ ।
प्रभुपर हर्षित अमरोंकी गिरती हैं पुष्पाञ्जलियाँ ॥
देखो चलकर मथुरामें निर्बाध, लेखनी ! आगे ।
घुल-घुल अशान्तिमें कैसे मरते हरि-विमुख अभागे ॥३५॥

दुर्दान्त भीम असुरोंके वधसे अति व्याकुल होकर ।
अति भीत कंसने सोचा प्राणोंकी आशा खोकर—
'अब तो उपाय अन्तिम ही करना मुझको निश्चय है ।
है भागिनेय दोनोंका या तो मेरा ही क्षय है' ॥३६॥

अक्रूर यादवोंमें अति व्युत्पन्न, सदाचारी थे।
निष्कपट सदा, सद्वक्ता, हरि-दर्शन-अधिकारी थे॥
जा पास कंसने उनको अपनी बीती समझायी।
बलराम-कृष्णके वधकी निज कपट-नीति बतलायी॥३७॥

"हम मल्लयुद्धका उत्सव मथुरामें करवाते हैं।
निज प्रजा, इष्ट मित्रोंको आमन्त्रण दिलवाते हैं॥
बलराम-कृष्णको लेकर नन्दादि गोप आयेंगे।
हम दोनों भ्राताओंको मल्लोंसे मरवा देंगे॥३८॥

"गोपाधिपको तुम कहना, 'अपने पुत्रोंको लायें।'
हम चाह रहे हैं उनके पुत्रोंको प्यार दिखायें।
दोनों पुत्रोंको निश्चय उनको लाना ही होगा॥
इस राजाज्ञाका पालन तुमको करना ही होगा" ॥३९॥

अक्रूर पड़े चिन्तामें, "कैसे दूतत्व निभाऊँ?
पापिष्ठ कंससे कैसे मैं अपना पिंड छुड़ाऊँ?"
पर मिली प्रेरणा प्रभुकी, "प्रभुकी ही सब माया है।
प्रभुकी अत्यन्त कृपासे यह शुभ अवसर आया है" ॥४०॥

सुन्दर सज्जित रथपर चढ़ अक्रूर चले वृन्दावन।
बलराम-कृष्णमें तन्मय, तद्रूप हुआ उनका मन॥
यद्यपि बैठे हैं रथमें, है स्मृति भूली पर मगकी।
सुखमय-मधुमय कैसी है अनुभूति-कल्पना जगकी॥४१॥

प्रिय नन्द-गेहमें जाना, सुनकर आया अपना जन—
बलराम-कृष्णका आना, उनका पाना शुभ दर्शन॥
नयनोंके जलसे प्रभुके पादोंको प्रक्षालन कर—
फिर निर्निमेष नयनोंसे उनको अपने उरमें भर॥४२॥

उनका प्रेमिल आलिङ्गन, वह शाश्वत मिलन हृदयका—
जनसे जगदीश्वरका है उन्मूलक संसृति-भयका ॥
फिर कुशल-प्रश्नके मिससे वाणीका श्रवण सुधामय ।
फिर और प्रेमकी बातें, प्रभुका संसर्ग निरामय ॥४३॥

अक्रूर विमल मानसमें ये चित्र कल्पना-पटपर—
होते अङ्कित हैं, जिनको जीवित कर देंगे नटवर ॥
अब सूर्य-रश्मियाँ कहतीं, 'अक्रूर ! तुम्हें पहुँचाकर—
रविको लेकर अस्ताचल हम भी जातीं अपने घर' ॥४४॥

गोपाधिप नन्द-सदनपर सोनेका कलश दिखाता ।
रविकी अन्तिम किरणोंमें वह अनुपम छवि है पाता ॥
अक्रूर-देह रथमें है, उनका मन थिरक-थिरककर ।
है नाच रहा, निज कल्पित बलराम-कृष्णकी छविपर ॥४५॥

अब सदन-द्वारपर रथसे अक्रूर उतरते हैं ज्यों,
बलराम-कृष्णकी कल्पित छवि मूर्त्त हुई सम्मुख त्यों ॥
अक्रूर युगल नयनोंसे आँसूकी धारा बहती ।
वह साग्रज हरि-चरणोंको धोकर धरणीपर पड़ती ॥४६॥

बलराम-कृष्णने धरकर हाथोंसे उन्हें उठाया ।
उनके अपलक नयनोंमें क्षणमें छवि-युग्म समाया ॥
साग्रज कृष्णालिङ्गनने नस-नसमें विद्युत् भरकर—
हर लिया त्रिविध तापोंको, अन्तस्को आलोकित कर ॥४७॥

स्वागत कर, आसन देकर, चरणोंको जलसे धोकर—
गोपाधिपने करवायी ज्योनार प्रफुल्लित होकर ॥
अक्रूर-आगमनका अब जब हेतु नन्दने जाना ।
चिन्तित हो, इसमें निश्चय कुछ है रहस्य यह माना ॥४८॥

'कैसे पुत्रोंको लानेकी आज्ञा पाल सकूँगा ?
पर है राजाज्ञा, इसको कैसे मैं टाल सकूँगा ?'
विक्षुब्ध नन्द-मानसमें यह अन्तर्द्वन्द्व मचा था।
पर होनहार होगा ही, विधनाने जिसे रचा था ॥४९॥

जब खिन्न पिताको देखा, बलराम-कृष्ण यों बोले—
'डरना है व्यर्थ पिताजी, जो होना है, सो हो ले ॥
डर नहीं कंस मामासे—मारें वा प्यार करें वे।
वे हमें डरायेंगे क्या ? हमसे अब स्वयं डरें वे' ॥५०॥

पर मौन नन्द बैठे थे पुत्रोंकी बातें सुनकर।
माँकी आँखोंसे गिरती आँसूकी धारा झर-झर ॥
उद्विग्न यशोदा बोलीं, "पुत्रोंको क्यों जाने दूँ ?
मैं जान-बूझकर, स्वामी ! विपदाको क्यों आने दूँ ? ॥५१॥

"वह भीषण कंस कहाँ है, ये कहाँ हमारे बच्चे।
पवि-सम बाणोंके सम्मुख ये दो मृगशावक कच्चे ॥
आँखें निकाल लो मेरी, राजाको कर दो अर्पण।
उनके हित प्राणोंको भी करती हूँ आज समर्पण ॥५२॥

"बलराम-कृष्णको, स्वामी ! मैं कभी न जाने दूँगी।
इस राजाज्ञाका पालन जीते-जी नहीं करूँगी ॥
अक्रूर ! आपको जाकर राजासे कह देना है—
'गोपाधिपकी रानीपर आये उनकी सेना है ॥५३॥

'यह नहीं कृष्णकी माता नारी अबला केवल है।
माताकी वत्सलता भी रखती जगमें कुछ बल है ॥'
गोपाधिपकी रानीका संवाद सुना दें जाकर।
निज कपट-नीतिका उत्तर पायें वे व्रजमें आकर' ॥५४॥

कैसा विचित्र जादू था माताके इन वचनोंमें ।
आँसूका सोता खोला जिसने सबके नयनोंमें ॥
माँ प्रकृति गोदमें बैठी व्रजकी रजनी भी रोती—
चिर कृष्ण-विरह-आशङ्कासे नहीं आज है सोती ॥५५॥

वह अश्रु भरी नीरवता छायी जो नन्द-सदनमें ।
दे मधुर सान्त्वना माँको हरिने तोड़ी कुछ क्षणमें—
"ले यह अगाध वत्सलता इसकी अथाह धारामें ।
तुम एक दह रहीं माता ! वह एक पड़ी कारामें ॥५६॥

"आहें भर-भरकर नित-नित वह बुला रही है मुझको ।
मुझको आज्ञा देनेका है भार दे रही तुमको ॥
आज्ञा दो मुझको, माता ! मैं उनका कष्ट छुड़ाऊँ ।
कर त्राण साधुओंका मैं निज जन्म सफल कर पाऊँ ॥५७॥

"जगकी सेवामें मुझको तुम अर्पण कर दो माता !
मैं पुत्र तुम्हारा सच्चा बन जाऊँ जगका त्राता ॥
आदर्श जगतमें माँका अविरल यश तुम्हें मिलेगा ।
वात्सल्य-मूर्ति माँ ! तुम हो, सर्वोत्तम नाम खिलेगा" ॥५८॥

बेटेकी इच्छाओंको वह सदा निभानेवाली
माता गद्गद हो बोली अधिकार दिखानेवाली—
'जाते हो, बेटा ! जाओ; पर मुझको नहीं भुलाना ।
जगका हित-साधन करके, फिर शीघ्र लौटकर आना' ॥५९॥

प्रियतमसे फिर वह बोली, 'हे नाथ ! वहाँपर जाकर ।
मथुरा-नरेशसे कहिये ये सब बातें समझाकर ॥
वसुदेव-देवकीको वे निश्चय जो मुक्त करेंगे,
तो फिर मेरे शिशुओंसे निर्भय जगमें विचरेंगे' ॥६०॥

गम्भीर नन्द तब बोले, "छलनेवाला छलता है।
पर प्रभु-विधानके आगे किसका चारा चलता है?
मङ्गलमयका मङ्गलमय होगा विधान निश्चय ही।
फिर तुम भी प्रिये यशोदे, गृहमें रहना निर्भय ही ॥६१॥

"बलराम-कृष्णपर मेरा विश्वास पूर्ण है देवी!
ये पूर्ण ब्रह्म ईश्वर हैं, हम हैं इनके जन सेवी ॥
अपने वैरी जीवोंसे भी हैं ये नेह दिखाते।
वधसे हो वा जैसे हो, उनको हैं मुक्ति दिलाते ॥६२॥

"वात्सल्य यही कहता है, 'पुत्रोंको मत जाने दो।'
कर्त्तव्य सिखाता, 'मनमें मत यह विचार आने दो॥'
अक्रूर बतायें—इनमें, बस, क्या मुझको करना है—
श्रेयस्कर—जाने देना, पुत्रोंको या रखना है?" ॥६३॥

अक्रूर सोचकर बोले, 'है जन्म अलौकिक विभुका।
जगके हितार्थ होता है अवतार धरापर प्रभुका॥
उनकी जैसी इच्छा हो, वैसा उनको करने दें।
कर दूर भार वसुधामें सुख-शान्ति-सुधा भरने दें' ॥६४॥

जब सुना गोपिकाओंने बलराम-कृष्णका जाना,
यह कुलिश-पात उरपर था असमय वियोगका आना॥
कुल-लोक-लाज-मर्यादा हरिपर करके न्योछावर-
प्रातः होते-होते ही सब आयीं नन्द-सदनपर ॥६५॥

अक्रूर और साग्रज हरि निज सदन-द्वारपर रथमें-
बैठे हैं होकर उद्यत जानेको मथुरा-पथमें॥
राजोचित उपहारोंको छकड़ोंमें सजा-सजाकर,
गोपाधिप भी उद्यत हैं जानेको रथपर चढ़कर ॥६६॥

अति खिन्न गोपियाँ बोलीं, "प्रिय ! छोड़ कहाँ जाते हो ?
तुम विरह-कुलिशसे उरको अब चीर कहाँ जाते हो ?"
आँसू आँखोंसे झर-झर भूतलपर गिरते जाते ।
प्रिय-विरह-वेदना-गाथा मसि बनकर लिखते जाते ॥६७॥

हरि बोले, 'मैं आऊँगा, चिन्ता तुम कभी न करना ।
तुम जीवित हो, मैं जीता; मम मृत्यु तुम्हारा मरना ॥
तुम एक-एक मेरा उर; तुमने जो प्रीति बिखेरी,
चुन-चुन कर चेर बना मैं, तुम बनी स्वामिनी मेरी' ॥६८॥

प्रियतमको लेकर बढ़ता रथ दूर चला जाता है ।
रथका झंडा भी उनको अब दीख नहीं पाता है ॥
प्रिय आयेंगे—आशाकी पट्टीने उरको कसकर—
बाँधा है, अतः न मिलता उसको फटनेका अवसर ॥६९॥

अनवरत तैलधारावत् चिन्तन प्रियतमका केवल—
देता है विरह-व्यथामें व्रज-वनिताओंको कुछ कल ॥
बस चलो, लेखनी ! देखो, मगमें रथका पीछा कर ।
पहुँचे हैं कहाँ, बता दो, बलराम और मुरलीधर ॥७०॥

था एक कुण्ड यमुना-तट, रथ रुका वहींपर आकर ।
वे स्नान-भोजनादिकसे होकर निवृत्त सुख पाकर ॥
रथमें बैठे दो भाई, तटसे अक्रूर उतर कर—
जलमें पैठे मज्जन-हित, डुबकी मारी जल भीतर ॥७१॥

बलराम-कृष्ण दोनोंकी झाँकी जल भीतर आई ।
ऊपर उठकर जब देखा, रथमें बैठे दो भाई ॥
"भ्रम है अथवा सच्चा है ?" जलमें फिर डुबकी मारी ।
बलराम शेष हैं देखा, हैं कृष्ण विष्णु अविकारी ॥७२॥

है क्षीरसिन्धु यमुना-जल, हरि पड़े शेष-शय्यापर ।
हैं देव-देवियाँ, मुनिगण कर रहे स्तवन जोड़े कर ॥
अक्रूर हाथ जोड़े हैं, करते हैं स्तुति पुलकित हो ।
बलराम-कृष्ण ही हैं वे, फिर देखा उन्हें चकित हो ॥७३॥

जलसे बाहर होकर वे रथके समीप जब आये ।
विस्मित उनको देखा जब, दोनों भाई मुसकाये ॥
हरिने पूछा, "चाचाजी ! क्यों आप दीखते विस्मित ?"
नत-मस्तक चाचा चुप थे निज महाभाग्यपर हर्षित ॥७४॥

पहुँचा समीप मथुरा रथ, अपराह्ण हुई वेला जब ।
सौभाग्य ला रहा वाहन नर और नारियोंका अब ॥
रथ पहुँच गया मथुरामें, रथसे उतरे दो भाई ।
दोनोंकी बाँकी झाँकी सबके नयनोंमें छाई ॥७५॥

क्या कभी किसीने देखी थी रूप-माधुरी ऐसी,
मथुरावासी लोगोंके सम्मुख आयी वह जैसी ?
सर्वस्व किया न्योछावर इस रूप-सुधा-कण-कणपर ।
जिसने देखा, वह भूला अपना तन-मन-धन-जन-घर ॥७६॥

अक्रूर खड़े सम्मुख थे, उनसे बोले सुखदाता—
"हे तात ! आपके घरपर आयेंगे दोनों भ्राता ॥
आसीस हृदयसे दे दें, हों सफल यहाँ हम आकर ।
हैं पहुँच गये व्रजवासी, मामासे कह दो जाकर" ॥७७॥

बहुमूल्य धुले वस्त्रोंको ले रजक कंसका अपना—
मगमें गर्वित जाता था, उसका टूटा सुख-सपना ॥
हरिने वस्त्रोंको माँगा, वह लड़नेको था तत्पर ।
बस, तुरत हाथसे उसका धड़से सिर दिया अलग कर ॥७८॥

वस्त्रोंसे सज्जित होकर बलराम-कृष्णने आगे—
माली एवं गंधीसे माला-गन्धादिक माँगे ॥
हरिको अभीष्ट देकर वे कृतकृत्य हुए निश्चय हैं ।
संसार-चक्रमें पिसनेसे अब दोनों निर्भय हैं ॥७९॥

कुब्जा सैरन्ध्री मगमें अब मिली सुवदना नारी ।
हरिके दर्शनने उसकी सब विषय-वासना मारी ॥
हो शुद्ध प्रेमिका हरिकी उनसे बोली वह हँसकर—
'हे प्यारे, मेरे मनको तुमने बाँधा है कसकर ॥८०॥

'बाहर त्रिवक्र कुब्जा हूँ, भीतर हूँ इससे बढ़कर ।
मन भी टेढ़ा चलता है संसार-चक्रपर चढ़कर ॥
क्या इन अयोग्य हाथोंसे अनुलेपन ग्रहण करोगे ?
निज वरद करोंको मेरे सिरपर क्या नाथ धरोगे ?' ॥८१॥

स्वीकृति हरिकी पाकर वह अति मुग्ध, प्रेमकी प्यासी—
अनुलेपन दोनोंका है कर रही कंसकी दासी ॥
सैरन्ध्रीके हाथोंसे अनुराग-राग-रञ्जित हैं ।
कैसी अनुपम छवि पायी, उनकी आँखें अञ्जित हैं ॥८२॥

कुब्जाके दो पैरोंको पैरोंसे स्वयं दबाकर—
हरिने अङ्गोंको खींचा ठुड्डीको तनिक पकड़कर ॥
कुब्जा अब तो सीधी है, यह हुआ अचंभा कैसे ?
हरि-कृपा जगतमें जनपर फलती रहती है ऐसे ॥८३॥

अब धनुषयज्ञ-शालामें हैं पहुँच गये दो भाई ।
रक्षकगणने जब देखा, उनके मन भीति समाई ॥
ऐसे विशाल धनुको हरि झट उठा तोड़ते कैसे ?
गजराज कमलकी डंडी ले तोड़ रहा हो जैसे ॥८४॥

रक्षक सब मिलकर दौड़े, आतङ्क हृदयमें छाया।
हरिने धनुके टुकड़ोंसे उनको है मार भगाया॥
मामाको मिली चुनौती इस समाचारके द्वारा।
अति भीत कंस व्याकुल था, जब सुना मृत्युका नारा ॥८५॥

फिर लौट नगरके बाहर गोपोंने रात बिताई।
कल मल्लयुद्ध देखेंगे, आमन्त्रित दोनों भाई॥
पर रात भयानक भारी थी, कंस, भला, क्यों सोता ?
अशकुन-सूचक सपनोंसे पल-पलपर व्याकुल होता ॥८६॥

उद्विग्न कंसने देखा—नभमें तारे थे कैसे ?
आननपर अगणित आँखें ले काल प्रकट हो जैसे॥
था स्मरण कृष्णका प्रतिपल उर मध्य ठोंकता कीलें।
कृष्णाङ्ग-वसन आँखोंमें छा जाते नीले-पीले ॥८७॥

प्रातः प्राचीको देखो हँस-हँसकर बोल रही है।
विपदा-निशान्त-संदेसा जग सम्मुख खोल रही है॥
कहती है, 'जाकर देखो अब कंस-मल्लशालाको।
ले जाओ विपदा-हर्त्ता बलराम-नंदलालाको' ॥८८॥

था हाथी एक कुवलया-पीड़ाख्य महा मतवाला।
रखता हजार हाथीका बल, उसे कंसने पाला॥
अवरुद्ध द्वार उससे ही जब मिला मल्लशालाका,
होगा प्रवेश अब कैसे सुकुमार नंदलालाका ? ॥८९॥

था दुष्ट कंसने सोचा, "हाथीसे मरवा दूँगा।
या मल्लोंसे भिड़वाकर प्राणोंको हरवा दूँगा॥"
आदेश महावतको था, गजने हरिको देखा ज्यों,
करता चिग्घाड़ भयंकर हरिके ऊपर झपटा त्यों ॥९०॥

हरिने घसीटकर गजको पीछेसे पूँछ पकड़कर—
अधमुआँ किया, फिर जाकर मस्तकपर चढ़े अकड़कर ॥
घूँसेसे मरा महावत, घूँसेसे गजको मारा।
हो विकल गिरा धरणीपर, बह चला रक्त-फव्वारा ॥६१॥

हरिने उखाड़ दाँतोंको मारा ज्यों मर्मस्थलमें,
गज प्राणहीन धरणीपर, बस, पड़ा एक ही पलमें ॥
बलराम-कृष्ण दोनों ही गजदन्त एक ले-लेकर—
घुस गये मल्लशालामें, रक्षकगणको भय देकर ॥६२॥

बलराम-कृष्ण दोनों ही जब रङ्गभूमिमें आये,
मल्लोंको वज्र, पिताको, माताको शिशु दिखलाये ॥
देखा सब वनिताओंने बढ़कर मनोजसे सुन्दर।
जन-साधारणके सम्मुख थे प्रकट श्रेष्ठ दो नटवर ॥६३॥

शासक हैं बड़े हमारे, चिन्तित हैं दुष्ट नृपतिगण।
ये परम तत्व हैं दोनों, हैं मान रहे योगीजन ॥
हैं सोच रहे यादवगण, 'प्रकटे हैं देव हमारे।'
स्वजनोंने पहले-जैसे साग्रज-हरिरूप निहारे ॥६४॥

अपने-अपने भावोंके अनुसार सभीने देखा।
उन विश्वरूप हरि रूपोंका कौन करेगा लेखा ॥
पहलेसे जो बैठे थे अपने-अपने आसनपर।
व्यक्तित्व भाइयोंका लख, उठ खड़े हुए नारी-नर ॥६५॥

चाणूर और मुष्टिक दो मल्लोंमें महा प्रमुख थे।
बलराम-कृष्णके आगे दोनों बढ़कर सम्मुख थे ॥
वे ताल ठोंककर बोले, 'आओ, दंगल लड़नेको—
तुम दोनों हम दोनोंसे, राजाका प्रिय करनेको' ॥६६॥

हरि बोले, 'आप कहाँ हैं, हैं कहाँ क्षुद्र हम बालक।
शेरोंसे क्या भिड़ते हैं वनमें छोटे मृगशावक?
दे योग्य हमारे जोड़े राजा ही न्याय करेंगे।
वनवासी हम बच्चोंका वे निश्चय ध्यान रखेंगे ॥९७॥

'राजाने हमें बुलाया, कहकर वे प्यार करेंगे।
जाँघोंपर हमें बिठाकर वे अपना अङ्क भरेंगे ॥
जो सुधादानकी आशा देकर विषदान करेंगे,
तो आप हमें बतला दें, इसको भगवान सहेंगे?' ॥९८॥

तब कंस क्रुद्ध हो बोला, 'मल्लोंसे क्यों डरते हो?
मैं पराक्रमी राजा हूँ, तुम बढ़-बढ़ क्यों बकते हो?
मेरे मित्रोंको मारा, फिर आज तुम्हें है डरना!
मुष्टिक-चाणूर-करोंसे निश्चय तुमको है मरना' ॥९९॥

कुछ विज्ञ सभासद बोले, अबलाओंने दी हामी—
'अन्याय देख हम ऐसा क्यों बनें नरकके गामी ॥
राजाके आश्वासनपर ये आये हैं रथ चढ़कर।
विश्वासघातसे कोई क्या अन्य पाप है बढ़कर' ॥१००॥

हरि बोले, 'आप सभासद! सब शान्त-चित्त हो जायें।
आसीस हमें केवल दें, अपना कर्त्तव्य निभायें ॥
ऐसे कुत्सित पुरुषोंके भगवान महाशासक हैं।
है सूर्य-बिम्ब छोटा, पर घोरान्धकार-नाशक है' ॥१०१॥

मुष्टिक-बलराम भिड़े हैं, चाणूर-कृष्णका जोड़ा—
दंगलमें जुटा हुआ है, है दाव-पेंच सब छोड़ा ॥
देखी थी कभी किसीने क्या मल्ल-चातुरी ऐसी,
इन दो छोटे बच्चोंने है आज दिखायी जैसी? ॥१०२॥

ज्यों एक नकुलका बच्चा अहिको है नाच नचाता,
ज्यों कुलिश इन्द्रका तीखा गिरिवरको ढाह गिराता,
चाणूर और मुष्टिकको त्यों नाच नचाया दम भर।
मर्माहत मृतक पड़े अब, धरणीपर रक्त वमन कर ॥१०३॥

शल-तोशलादि मल्लोंको फिर हरिने मारा क्षणमें।
तब उठी क्रोधकी ज्वाला दुर्दान्त कंसके मनमें॥
क्या सचमुच इसी तरहसे वह हरिको भस्म करेगा?
दावानल पीनेवालेके सम्मुख, भला, टिकेगा? ॥१०४॥

'मारो! मारो!!' वह बोला असि-ढाल करोंमें लेकर।
हरि चढ़े मञ्चके ऊपर, सिंहासन-निकट पहुँचकर—
झट सिरसे मुकुट गिराया, कच पकड़ कंसको करसे।
नीचे ढकेलकर उसपर हरि कूद पड़े ऊपरसे ॥१०५॥

विष-सदृश असुर-भावान्वित वह कंस महा था विषधर।
निज बिलमें मृतक पड़ा है ज्यों शिलाखण्डसे दबकर॥
थे आठ कंसके भ्राता, उनके अनुचर-रखवारे।
बलराम-कृष्ण-हाथोंसे हत हो परलोक सिधारे ॥१०६॥

जो अन्य मक्षिका भयसे भौंरेका चिन्तन करती,
चिन्तन करते-करते वह भौंरा बनकर है रहती॥
भगवच्चिन्तन करता था वह कंस वैरसे, भयसे।
वह स्वयं कृष्ण बन उनमें मिल गया देहके क्षयसे ॥१०७॥

अधिकांश भार पृथ्वीका इस कंस-निधनके द्वारा—
हरिने हर लिया, इसीसे जग मुदित दीखता सारा॥
ब्रह्मा-महेश देवादिक, गन्धर्व-अप्सराएँ सब—
कर नृत्य-वाद्य उत्सवमें पुष्पोपहार देते अब ॥१०८॥

सब मृतक-पत्नियाँ आकर अतिशय विलाप करती हैं।
वैधव्य-जनित दुःखोंको सब रो-रोकर कहती हैं॥
ज्ञानोपदेशके द्वारा हरि उनको समझाते हैं।
प्रारब्ध-चक्रपर चढ़कर सुख-दुःख सभी पाते हैं॥१०९॥

जकड़े बेड़ीमें दोनों वसुदेव-देवकी कैसे ?
हैं दृश्य देखते सारे वे मन्त्र-मुग्ध हों जैसे॥
करके प्रणाम हरि उनका अब बन्धन तोड़ रहे हैं।
जो भग्न हृदय हैं उनके, उनको वे जोड़ रहे हैं॥११०॥

प्रेमाश्रु-बिन्दु औषधिसे हरि उरका व्रण भर देंगे।
अब प्रेम-सुधा बरसाकर संताप त्रिविध हर लेंगे॥
थी ईश-भावना अबतक वसुदेव-देवकी-मनमें।
वत्सलतामें परिणत थी हरि-कृपा एक ही क्षणमें॥१११॥

वसुदेव-देवकी दोनों पुत्रोंको गोद बिठाकर—
श्रम दूर कर रहे उनका निज आँसूसे नहलाकर॥
वसुदेव-देवकीकी है यह भाग्य-चक्रकी रेखा।
इतिहास ! बता दो, ऐसा क्या पुत्र-मिलन है देखा ?॥११२॥

माता-पिताकी गोदमें बलराम-हरिको याद कर।
सुन्दर मिलनके दृश्यको मन ! तू सदा ही ध्यान कर॥
हरिके लिये जो यातनाएँ झेलता संसारमें,
करना नहीं संदेह ऐसे जीवके उद्धारमें॥११३॥
आगे अभी बढ़ना तुझे, अब लेखनी ! थोड़ा ठहर।
विश्रामदाता कृष्णसे कहकर क्षणिक विश्राम कर॥
मुझको परम विश्राम निश्चय कृष्ण ही देंगे वही।
कृतकृत्य तू भी लेखनी ! मेरे सहित होगी सही॥११४॥

नवम सर्ग

अब कहो, लेखनी ! कल क्या थी? मथुरा वह आज हुई कैसी ?
वृन्दावनकी वह सौम्य छटा अब कहाँ गयी पहले-जैसी ?
उस काल-चक्रकी नेमी ही लाती रहती है उथल-पुथल ।
जलको स्थलमें परिवर्तित कर वह स्थलमें भर देती है जल ॥ १ ॥
उस काल-चक्रका स्वामी ही मथुरामें आज स्वयं आया ।
सौभाग्य रहा वृन्दावनका, मथुराने आज उसे पाया ॥
अब रोम-रोम मथुराका है हर्षातिरेकसे नाच रहा ।
काञ्चन बन गया, अभीतक जो कंसाधिपत्यसे काँच रहा ॥ २ ॥
जनताने फिर सिंहासनपर नृप उग्रसेनको बैठाया ।
पर उग्रसेनकी थी इच्छा कुछ और, उन्होंने बतलाया ॥
जनताने निज प्रतिनिधियोंको राजाज्ञा पाकर भेज दिया,
जिनके सम्मुख नृप उग्रसेनने निज इच्छाको व्यक्त किया ॥ ३ ॥
'यह कृष्णचन्द्र मेरे भाईका है दौहित्र, इसे देता—
होकर प्रसन्न निज राज्य-भार, मैं उपरामता स्वयं लेता ॥
मेरी इच्छापर कर विचार अब आप सभी निर्णय कर दें ।
अतिशय कृतार्थ मैं हो जाऊँ, जो आप यहाँ हामी भर दें' ॥ ४ ॥
था उग्रसेनका यह सुन्दर प्रस्ताव समर्थित जनतासे ।
पर कहा कृष्णने, "मैं तो हूँ अनभिज्ञ राज्यकी सत्तासे ॥
वृन्दावनवासी बच्चेको है राजनीतिका ज्ञान कहाँ ?
मैं राजवंशमें हूँ पैदा, इसका मुझको अभिमान कहाँ ? ॥ ५ ॥
'नानाजी ! मैं जगमें आया जनताका कष्ट मिटानेको ।
अभिमानी सब राजाओंका मिथ्या अभिमान छुड़ानेको ॥
राजा बनकर मैं स्वयं कभी यह काम नहीं हूँ कर सकता ।
निश्चय है, जन-सेवामें रत मैं आप स्वयं हूँ मर सकता ॥ ६ ॥

"अन्यायों-अत्याचारोंका मैं दमन करूँगा, यह प्रण है।
मैं चीर-फाड़कर ठीक करूँगा, जगमें फैला जो व्रण है ॥
यह राज्य नहीं मुझसे होगा, निश्चिन्त आप हो राज्य करें।
जन-सेवामें मैं लगा रहूँ, मेरे मनमें उत्साह भरें ॥ ७ ॥

"जो संत और सम्भ्रान्त प्रजा है कंस-भीतिसे भाग गयी,
उनको बुलवायें और करें चेष्टा जगमें हो शान्ति नयी ॥
आजन्म यही है व्रत मेरा, जगका मैं भार उतारूँगा।
सुख-शान्ति जगतमें फैलाकर दीनोंकी दशा सुधारूँगा" ॥ ८ ॥

जनता गद्गद वाणी बोली, "अब तो अनीतिका होगा क्षय।
जय उग्रसेन राजाकी हो, श्रीकृष्णचन्द्रकी हो जय ! जय !!"
जब सभा विसर्जित हुई, कृष्ण वसुदेव-नन्दके पास गये।
दोनों मित्रोंके हृदयोंमें थे भाव उठ रहे नये-नये ॥ ९ ॥

इस बीच देवकी भी आयीं, श्रीकृष्ण गोदमें आ बैठे।
वे बाहर थे, वे थे भीतर; वे रोम-रोममें थे पैठे ॥
वसुदेव नन्दसे यों बोले, "है कृष्ण पुत्र तेरा, भैया !
है नहीं देवकी माँ उसकी, बस, वही यशोदा है मैया" ॥१०॥

तब कहा नन्दने, "हे प्रियवर ! तुमने मुझको निज पुत्र दिया।
मुझ पुत्रहीनको पुत्रवान कर तुमने जगमें ख्यात किया ॥
मैं दास तुम्हारा हूँ प्रियवर ! मैंने केवल शिशुको पाला।
धात्री माता मेरी पत्नी, हम-तुम दोनोंका यह लाला" ॥११॥

वसुदेव प्रेमसे हो गद्गद निज मित्र नन्दसे यों बोले—
"आचार्य गर्गने पहले ही कुछ थे रहस्य मुझसे खोले ॥
है कृष्ण अजन्मा, कौन पिता इसका ? बेटा यह है किसका ?
जगमें जो चाहे बने पिता, यह बेटा बन सकता उसका" ॥१२॥

हरिने सोचा, 'यह ईश-भाव वात्सल्य-भावका है बाधक ।
वात्सल्य-भावमें रहें अभी ये प्रेम-मार्गके दो साधक ॥'
हरिने विशुद्ध माया फेरी, बस, पकड़ा हरिको दोनोंने ।
'मेरा बेटा, मेरा बेटा', कह लगे तुरत दोनों रोने ॥१३॥

वात्सल्य देवकीकी आँखोंसे बहा रहा है जलधारा ।
अञ्चलसे आँसू पोंछ रही है, कृष्ण रो रहा है प्यारा ॥
अब कृष्ण सिसकियाँ भर-भरकर माताकी गोद पड़े बोले—
"माँ, विरह-तप्त निज नयन-युग्म तू मिलन-अश्रुजलसे धो ले ॥१४॥

"पर तेरी बहन यशोदा माँ नूतन विरहानलमें जल-जल—
मुझ जलद श्यामके शीतल जलकी बाट जोहती है पल-पल ॥
मैं यहाँ रहूँ या वहाँ रहूँ, यह कौन मुझे अब समझाये ।
मेरे मनकी इस उलझनको अब कौन, भला, जो सुलझाये?" ॥१५॥

गम्भीर देवकी तब बोली, "अधिकार यशोदाका तुमपर ।
स्वीकार हृदयसे मैं करती, निश्चय ही है मुझसे बढ़कर ॥
अङ्कुरित बीज मैंने छोड़ा, वात्सल्य-अम्बुसे सींच जिसे—
छाया-तरु बना दिया जिसने,तरुपर जग दे अधिकार किसे?" ॥१६॥

इस बीच गर्ग आकर बोले, "दोनोंका है तुल्याधिकार ।
अङ्कुरित बीज तरु बन जाये, दोनोंके थे सुन्दर विचार ॥
यह वासुदेव, यह नन्दलाल; लो इसे देवकीनन्दन कह ।
है वही यशोदानन्दन भी, विख्यात जगतमें होगा यह ॥१७॥

"थे बालकृष्णके प्रेम-क्षेत्र गोकुल-वृन्दावन पुण्य धाम ।
नूतन आया अब कार्य-क्षेत्र, नूतन आये हैं यहाँ काम ॥
अब यहाँ कृष्णका रहना ही मुझको श्रेयस्कर दिखलाता ।
है अभी धरापर बोझ बड़ा, जो उससे सहा नहीं जाता" ॥१८॥

पर यह निर्णय था वज्रतुल्य, जो नन्द-हृदयका था घातक।
था तृषित नन्द-उर कृष्ण बिना,स्वाती-जल बिना यथा चातक॥
पर स्वाती-जलको छोड़ हाय ! चातक जानेको बाध्य हुआ।
पर इसी त्यागका यह फल है, वह चातक जग-आराध्य हुआ॥१६॥

बलराम-कृष्ण हैं नन्द-गोद, इस करुण दृश्यकी बलिहारी !
बतला, इन आँखोंमें किसने रोनेमें है बाजी मारी ?
ठुड्डीको पकड़ पिताकी वे बोले, "हम आयेंगे निश्चय।
मातासे जाकर कह देना, हम कभी नहीं होंगे निर्दय" ॥२०॥

बलराम-कृष्णको अङ्क लगा,उर रख वियोगका कठिन भार।
वसुदेव आदि मित्रोंसे मिल, नयनोंसे बहती अश्रु धार॥
पूँजीको गँवा चला निर्धन, कोई कवि वर्णन कर सकता ?
उस रिक्त हृदयको कृष्ण बिना क्या कोई जगमें भर सकता ?॥२१॥

लौटे व्रजेन्द्र, पर व्रजनन्दन तो व्रजमें लौट नहीं आया।
सुत-विरह-निशाका तिमिर-जाल माताका छिन्न न हो पाया॥
मिलनेकी आशाका दीपक उरमें टिम-टिम जो था जलता।
क्या प्रबल निराशाका झोंका निर्बल दीपक था सह सकता?॥२२॥

अधपगली-सी होकर माता अपने बच्चेको ढूँढ़ रही।
"बोलो,पति ! कहाँ छिपा बेटा ?" वह बार-बार है पूछ रही॥
"हँसता सम्मुख वह, देख, खड़ा !" कहकर आगे बढ़ती जाती।
पर आज अभागे हाथोंसे बच्चेको नहीं पकड़ पाती॥२३॥

"पति ! देखो पीछे कृष्ण छिपा, पीछेसे उसे पकड़ लो तो।
मैं विकल हो रही कृष्ण बिना, मेरी गोदीको भर दो तो॥
तुम रोते हो? क्या सचमुच वह तुमसे भी छल करके भागा ?
क्या सचमुच टूट गया प्रियतम ! आशाका वह कच्चा धागा?"॥२४॥

फिर अनमन होकर इधर-उधर क्या-क्या है देख रही रानी।
विस्फारित नयनोंसे अविरल झर-झर गिरता जाता पानी॥
वह भवन-झरोखेसे बाहर, फिर आँगनमें भीतर आकर।
प्यारेको ढूँढ़ रही पगली, मथुरा-मगमें, घरके भीतर॥२५॥

वह बार-बार ऐसा करती, यह देख नन्दने समझाया।
"मैं निष्ठुर हूँ, अपराधी हूँ, प्यारेको छोड़ चला आया॥
ऊपर जाकर, नीचे आकर तुम जिस प्यारेको ढूँढ़ रही।
वह यहाँ नहीं, जिसके कारण तुम बनी बावली आज सही॥२६॥

"मैं यहाँ अकेला ही आया, तुमको मतिभ्रमने है घेरा।
रह गया कृष्ण मथुरामें ही, लुट गया वहींपर धन मेरा॥
उसकी लीलाओंका चिन्तन अब हमें निरन्तर है करना।
फिर आयेगा, इस आशासे है प्राणोंको धारण करना"॥२७॥

"पति! कहा आपने, आयेगा, बस, यही प्रतीक्षा मैं करती।
कब आयेगा वह, शीघ्र कहो; मैं पैर तुम्हारे हूँ पड़ती॥
मथुरा-पथमें, फिर आँगनमें तो बार-बार मैं देख चुकी।
पर नहीं कन्हैयाको पाया, फिर तुम्हें देखकर यहाँ रुकी"॥२८॥

तब कहा नन्दने, 'हे रानी! आनेका समय नहीं निश्चय।
प्रिय कृष्णचन्द्रको तो अवश्य दुष्कृतियोंका करना है क्षय॥
मथुरामें ही रहकर सम्भव यह कार्य गर्गने बतलाया।
फिर क्या मेरा चारा चलता, असहाय लौटकर मैं आया"॥२९॥

चिन्ताभिभूत बोली रानी, "मैं कभी नहीं जाने देती।
परिणाम ज्ञात होता मुझको, यह मोल आपदा क्यों लेती?
मैं नहीं जानती थी, विधि भी बेटेको निष्ठुर कर देगा।
मेरे जीवन-धनको मुझसे छलकर झटकेसे हर लेगा॥३०॥

"पर नहीं कृष्ण निष्ठुर होगा, उसका स्वभाव मैं जान रही।
मैं सदा प्रेममय प्यारेकी गति-विधिको हूँ पहचान रही॥
मैं निश्चय कहती हूँ, प्रियतम! मेरा लाला रोता होगा।
मेरी गोदीसे बिछुड़ हाय! भर नींद नहीं सोता होगा॥३१॥

"जबतक अपने इन हाथोंसे माखन-मिश्री मुँहमें देकर—
मैं नहीं खिलाती थी उसको, था चैन नहीं कुछ भी लेकर॥
मेवा-मिष्टान्न तथा बहुविध षट्रस भोजनको भी खाकर,
वह तृप्त नहीं होगा निश्चय, सब राजभोगको भी पाकर॥३२॥

"वे ही हैं हाथ यहाँ रोते, माखन-मिश्री भी है रोती।
रोता होगा खानेवाला, ऐसी प्रतीति मुझको होती॥
प्यारे लाला! इन हाथोंसे माखन-मिश्री आकर खा जा।
माखन-चोरी करनेको तो गोपी-गृहमें फिरसे आ जा॥३३॥

"जिनको लखकर व्रज-नर-नारीके हृदय-पुष्प थे खिल जाते।
पदचिह्न आज भी वे तेरे व्रजमें, वनमें हैं मिल जाते॥
तेरे अङ्गोंकी सुरभि मात्रसे सुरभित है यह व्रज सारा।
तेरी वाणीसे ध्वनित आज भी, किंतु कहाँ व्रजका प्यारा?॥३४॥

"ये आँखें फूट भले जायें, प्रियको जो देख नहीं सकतीं।
ये कर्ण बधिर हों भले, जहाँ तेरी वाणी न पहुँच पाती॥
गल-गल कर गिरे त्वचा, प्रियके जो स्पर्श-लाभसे हो वञ्चित।
अः! प्राण निकल जायें मेरे, विधि मुझपर दया करे किंचित॥३५॥

"या तो बेटेको लाकर दो या मुझे हलाहल विष दे दो।
सुत-विरह-बाणसे व्यथित हृदयको बार-बार अब मत छेदो॥
तुम तो रोते हो स्वयं नाथ! फिर मुझे सान्त्वना क्या दोगे?
है बात ठीक, इससे बढ़कर हम और अभागे क्या होंगे?॥३६॥

"मैं जहाँ देखती हूँ, व्रजमें साम्राज्य निराशाका छाया ।
यह प्रकृति रो रही है सारी, है प्राणहीन व्रजकी काया ॥
सब गोप-गोपियाँ हैं रोती, गायें रोतीं, बछड़े रोते ।
आँखोंमें आँसू भर पिंजरोंमें देख रहे मैना-तोते ॥३७॥

"करते हैं खग-मृग प्रकट आज निज विरह-वेदना रो-रोकर ।
वनके तरु, गुल्म-लताएँ भी रोतीं, सरिताएँ, गिरि-निर्झर ॥
जड और अचेतनकी भी है यह दशा दीनताकी कैसी !
फिर चेतनता अभिशाप घोर ही आज सिद्ध होती ऐसी ॥३८॥

"चेतनते ! मुझसे निकल भाग, घोरातिघोर जडते ! छा जा ।
तू हे अनन्त विस्मृति देवी ! इस हृदय-शून्यतामें आ जा ॥"
बस, यही बोलती मूर्च्छित हो धरतीपर लोट गयी रानी ।
अति व्यथित दासियाँ व्यजन डुला मुखपर हैं छिड़क रही पानी।३९।

कुछ हुई स्वस्थ बोली रानी, "मैं हाय ! अभागिन क्यों जीती ?
यह घोर आपदा है कैसी, जो कभी नहीं पहले बीती ॥
मैं बुला रही जडताको हूँ, फिर चेतनता क्यों आ जाती ?
क्या बिना सताये मुझे हाय ! उसको है चैन नहीं आती ? ॥४०॥

"हे चेतनते ! तू पुनः लौट मुझमें आयी, तेरा स्वागत !
उर हुआ वज्रसे भी कठोर, अब क्या होगा तुझसे विक्षत ?"
चेतनताने देखा, आँसू आँखोंमें पुनः छलक आया ।
हँसकर पूछा, 'क्या कभी पिघलती कठिन वज्रकी भी काया?'॥४१॥

चेतनता उपहास कर रही देख यशोदा तब बोली—
"तू अरी ! सताती क्यों मुझको ? क्या जान गयी सचमुच भोली ?
"मेरा बेटा वह पहुँच गया" कह ध्यानमग्न बैठी माता ।
था वह समाधि-आनन्द ब्रह्मसे भी ऊपर उठता जाता ॥४२॥

फिर हुई चेतना, फिर समाधि, फिर विरह-व्यथा, फिर मिलन-हेतु—
आशा-संचार हुआ करता सुत-विरह-सिन्धुमें महासेतु ॥
है कृष्ण-प्रेमकी यही रीति, है वत्सलता-आदर्श यही ।
बस, इन्हीं प्रेमके भावोंमें वह मग्न यशोदा सदा रही ॥४३॥

अब पुनः लेखनी ! मथुरामें चलकर देखो तो क्या होता ।
मथुराका तो प्रत्येक व्यक्ति अब हँसता है, जो था रोता ॥
यज्ञोपवीत-संस्कार शीघ्र बलराम-कृष्णका है होना ।
आनन्द-भरित इससे अतिशय है मथुराका कोना-कोना ॥४४॥

यज्ञोपवीत-संस्कार बाद भ्राताओंको अब है पढ़ना ।
गुरु सांदीपनिका था आश्रम, जाकर है उन्हें वहीं रहना ॥
सौभाग्य आज गुरुका अनुपम, उनको ऐसे दो शिष्य मिले ।
आश्रमवासी सब शिष्योंके भी हृदय-पुष्प हैं आज खिले ॥४५॥

बलराम-कृष्ण तो स्वयं ईश, सब विद्याओंके हैं उद्गम ।
यह लीला है आदर्श एक, गुरुगृह-अध्ययन तथा संयम ॥
चौंसठ ही दिवसोंमें होकर सब विद्याओंमें पारंगत,
हैं आज दक्षिणा देनेको वे गुरु समीप आये अवनत ॥४६॥

गुरु सांदीपनि हँसकर बोले, "बलराम-कृष्ण ! दोनों भाई—
तुम पूर्ण ब्रह्म अवतार स्वयं, यह बात समझमें है आई ॥
तुम दोनों भाई शिष्य बने, सौभाग्य परम यह है अनुपम ।
हम हैं कृतार्थ, पर एक बातकी चिन्ता मनमें है हरदम ॥४७॥

"वह है प्रभास जो क्षेत्र, वहीं मेरे सुतको कुछ दिन पहले—
हरकर सागरकी लहर ले गयी, कितना दुख अब मन सह ले ?
जीवितकर उसे पुनः ला दो, होंगे प्रसन्न दोनों प्राणी ।
अन्तस्तलसे निकली देगी आसीस तुम्हें मेरी वाणी" ॥४८॥

बलराम-कृष्ण हैं सिन्धु-तीर, है सिन्धु देवता प्रणत वहाँ।
हैं कृष्ण पूछते, "सिन्धुदेव! बतलाओ, है गुरुपुत्र कहाँ?"
"दुष्ट पञ्चजन शङ्खरूपमें है भीतर", बोला सागर।
"उसी असुरने मारा है उसको जलमें, बस, ले आकर" ॥४६॥

फाड़ उदर उस दुष्ट दैत्यका देखा हरिने उसके भीतर।
गुरुपुत्र मिला जब नहीं, शङ्ख तब पाञ्चजन्य करमें लेकर—
यमपुरमें गये, जहाँ हरिको कर धर्मराजने सम्मानित,
पालन आदेश किया उनका, गुरुपुत्र किया करमें अर्पित ॥५०॥

यह हुआ असम्भव भी सम्भव, गुरुने गुरुपत्नीने पाया—
बलराम-कृष्णसे मृतक पुत्र, आश्चर्य! सत्य है या माया?
मायापतिके गुरुके सम्मुख क्या माया कभी फटक पाती?
थी पुत्रशोकसे झुलस गयी, फिर हुलस गयी उनकी छाती ॥५१॥

था जिन्हें शोकके सागरमें लाया सुत सागरमें मरकर,
अपनेमें उनको डुबा रहा सुत-मिलन-जन्य सुखका सागर॥
थे राम-कृष्ण सम्मुख अवनत, गुरुने अगणित आसीस दिये।
हरिभक्ति-दान गुरुको देकर वे बिदा हुए गुरु-कृपा लिये ॥५२॥

मथुरावासी जन निर्निमेष हरिको हैं देख रहे कैसे?
आँखें रविकर बनकर खींचें हरिरूप सिन्धु-जलको जैसे॥
स्वजनोंका कर सम्मान, स्वयं उनसे होकर अति सम्मानित,
नित-नित करते रहते दोनों पूरे मथुरा-जन मन-वाञ्छित ॥५३॥

मथुराके कृष्ण-सखाओंमें थे अन्तरङ्ग ज्ञानी उद्धव।
एकान्त प्राप्तकर उनका कर ले निज करमें बोले माधव—
"उद्धव, मैं जान रहा तुमको, तुम तत्वज्ञानके हो वेत्ता।
संसार-मोह-बन्धनके हो तुम ज्ञान-अस्त्रद्वारा छेत्ता ॥५४॥

"वृन्दावनमें तुम जा करके प्रेमाभिभूत गोपीजनको—
मेरा संवाद सुना करके, हे सौम्य ! सान्त्वना दो उनको ॥
कर रही प्रतीक्षा हैं पल-पल मेरे आनेकी नित्य-नित्य ।
मिलनेकी आशासे ही, बस, जीवित रह करतीं नित्य-कृत्य ॥५५॥

"मातासे और पितासे तुम, सब गोप-गोपियोंसे जाकर,
मेरा संवाद सुना देना—'आऊँगा शीघ्र समय पाकर ॥'
उनकी ही स्मृति है एकमात्र जीवन-पथमें सम्बल मेरा ।
वे सभी हमारे हैं स्वामी, हूँ मोल खरीदा मैं चेरा ॥५६॥

"वृन्दावनका यह दिव्य भाव आँखोंसे लखो स्वयं जाकर ।
तुम गोप-रमणियोंसे कहना एकान्त कहीं उनको पाकर—
मेरे इन तन-मन-प्राणोंमें, बस, सदा गोपियाँ ही रहतीं ।
अनुप्राणित उनसे रोम-रोम, मुझसे वे पृथक् न हो सकतीं ॥५७॥

"ज्ञानोपदेशके द्वारा हो अथवा देखो जैसे सम्भव ।
तुम शोक गोपियोंका हरना, मैं भार तुम्हें देता, उद्धव !"
कहकर उद्धवको बिदा किया हरिने आँखोंमें आँसू भर ।
अब चलो, लेखनी! वृन्दावन; लो सफल धन्य निज जीवन कर ॥५८॥

हैं नन्दद्वारपर कृष्ण-दूत रथसे उतरे उद्धव ज्ञानी ।
स्वागत कर भीतर हैं लाते उनको व्रजराज तथा रानी ॥
आये हों कृष्ण स्वयं मानो, ऐसा आनन्द उन्हें आया ।
होते हरिभक्त सदा सजीव तो इष्टदेवकी ही छाया ॥५९॥

तब नन्द-यशोदाने पूछा बलराम-कृष्णका समाचार ।
नयनोंसे आँसू छलक-छलक वस्त्रोंपर गिरते बार-बार ॥
"व्रजके कण-कणमें तो केवल श्रीकृष्ण सदा बसते, उद्धव !
पर याद कभी क्या हैं करते हम स्वजनोंको प्यारे माधव? ॥६०॥

"प्यारे माधवकी लीलाएँ, उनका मृदुहास तथा चितवन,
मुरलीकी तान तथा उनका आलाप, सखा-सह गोचारण—
ये दृश्य सदा नाचा करते होकर सजीव सम्मुख, उद्धव !
उनकी संस्मृतिसे ही तो है इन प्राणोंका रखना सम्भव ॥६१॥

"हमसे रह अलग अगर प्यारा है सुख पाता, वह सुख पाये ।
हम सुखी सदा उसके सुखमें, है चाह किंतु वह फिर आये ॥"
कहकर रोते हैं फूट-फूट वे नन्द तथा उनकी रानी ।
इस वत्सलताकी धारामें बहते जाते उद्धव ज्ञानी ॥६२॥

वात्सल्य-प्रेमकी थी धारा, डूबा उद्धवका ज्ञान जहाँ ।
समझाने आये थे, परंतु समझानेका था ज्ञान कहाँ ?
'श्रीकृष्ण यहाँ फिर आयेंगे', कह लगे स्वयं उद्धव रोने ।
निर्मल हो जाये ब्रह्मज्ञान, वे लगे आँसुओंसे धोने ॥६३॥

"तुम धन्य, यशोदे ! नन्दराज ! यह वत्सलता है धन्य-धन्य ।
भूतलपर माता और पिता तुमसे बढ़कर हैं नहीं अन्य ॥"
ऐसा कहते-कहते उद्धव उनके चरणोंपर लोट पड़े ।
इस करुण दृश्यको सजल-नयन सब देख रहे थे मौन खड़े ॥६४॥

श्रीकृष्ण-बुद्धिसे उठा लिया उद्धवको नन्द-यशोदाने ।
अति रुचिर भोज्य, कोमल शय्या कर प्राप्त लगे उद्धव जाने ॥
'मथुरामें हैं श्रीकृष्ण, किंतु उनकी संनिधिसे भी बढ़कर—
व्रजभूमि शान्ति देती मुझको, जादू है वा व्रजेन्द्रका घर ?' ॥६५॥

प्रातः शय्यासे उठ उद्धव व्रजके कोने-कोनेसे सुन—
श्रीकृष्णचन्द्र-लीला-कीर्तन, दधिका मन्थन, कङ्कण-रुनझुन—
आनन्द-मग्न हो उठे, और गोपीजन-दर्शन-आकुलता—
पल-पल बढ़ती जाती थी, मनकी परम दिव्य थी विह्वलता ॥६६॥

उद्धवके आनेकी चर्चा व्रजमें फैली बिजली-जैसी ।
सब वृद्ध-युवा-बालक दौड़े, थी कृष्णप्रीति उनकी ऐसी ॥
उद्धवमें हैं श्रीकृष्ण स्वयं, यह समझ वन्दना की सबने ।
प्यारेका फिर संदेश सुना, जो उन्हें सुनाया उद्धवने ॥६७॥

सुनकर प्रसन्नता हुई उन्हें, फिर कृष्ण-हेतु उनका क्रन्दन—
सुनकर उद्धव थे स्वयं विकल, पर दिया उन्हें फिर आश्वासन ॥
उपवनमें तब आये उद्धव, थीं जुटी गोपियाँ सभी जहाँ,
था कृष्ण-प्रेम साकार प्रकट उद्धवने पाया आज यहाँ ॥६८॥

झुक गया शीश उद्धवजीका उन गोप-रमणियोंके सम्मुख ।
उनके दर्शनसे जो पाया, वह अनिर्वाच्य था अक्षय सुख ॥
निश्चल उद्धव थे मौन, अरे ! गोपीजनपर था लगा ध्यान ।
अपनेको ही वे भूल गये, फिर भूल गया सब ब्रह्मज्ञान ॥६९॥

गोपीजनसे हो उद्बोधित श्रीकृष्ण-नाम-कीर्तनद्वारा,
टूटी उद्धवजीकी समाधि, वह दृश्य जगतसे था न्यारा ॥
तब कहा गोपियोंने, "प्यारे उद्धवजी ! आप यहाँ आये,
मथुरासे बनकर कृष्ण-दूत, संवाद यहाँ जो-जो लाये ॥७०॥

"व्रजराज तथा व्रजरानीको उन संवादोंको सुना दिया ।
फिर निज दर्शनसे कृष्णदूत ! हमको भी आज कृतार्थ किया ॥
स्वजनोंका दुस्त्यज नेह कभी मुनिजन भी छोड़ नहीं सकते ।
फिर कृष्ण पिताकी, माताकी सुधि लिये बिना क्योंकर रहते ?॥७१॥

"स्वजनोंको छोड़ यहाँ उनका है कौन, जिसे वे याद करें ?
हम क्षुद्र अधम अनपढ़ ग्वालिन, हम सबका क्यों वे ध्यान धरें ॥
जगको विमुग्ध करनेवाली लक्ष्मी जिनकी चेरी बनकर—
है पास सदा रहती, हरि वे क्या रह सकते बन्धन भीतर ?॥७२॥

"हरि छोड़ हमें मथुरा भागे, इसमें उनका है दोष नहीं ।
नीरस तरुपर पक्षीगणका क्या रह सकता है वास कहीं ?
भौंरे भी तो रसहीन बना फूलोंको छोड़ चले जाते ।
इस स्वार्थी जगकी यही रीति, जगके होते ऐसे नाते ॥७३॥

"विद्या समाप्तकर शिष्य सभी निज गुरुको छोड़ चले जाते ।
यज्ञान्त देख यजमानोंसे ऋत्विज् गण भी उपरति पाते ॥
असमर्थ नृपतिसे प्रजा और वेश्या हटती निर्धन जनसे ।
कर नदी पार यात्री हटते हैं नाव तथा नाविकगणसे ॥७४॥

"हम क्षुद्र, प्रेम-रसहीन, अतः हरिने त्यागा हमको, उद्धव !
हम शुष्क सरोवर कहाँ, कहाँ वे तो अनन्त हैं प्रेमार्णव ॥
वे नृप-सुत, हम वनचारिणियाँ, हम क्षुद्र जीव, वे परमसंत ।
छलसे गिरिपर क्यों चढ़ा हमें गड्ढेमें डाला, हाय हन्त ? ॥७५॥

"वामन-अवतार लिया हरिने, छलसे बलिको पाताल दिया ।
रामावतारमें शूर्पणखा आयी, उसको हतरूप किया ॥
छलसे ही वालीको मारा, अब हुआ यहाँ कृष्णावतार ।
हम सभी गोपियाँ छली गयीं, हम हैं भोली, वे चाटुकार ॥७६॥

"छलियाकी कपटभरी बातें, हम उनपर क्यों विश्वास करें ?
हम उन बातोंको हे सखियो, क्यों सोच-सोच बेमौत मरें ?
हठ कर हम उनको भूल जायँ, पर नहीं दीखता यह सम्भव ।
उनकी चितवनके जादूसे हम कहाँ जायँ बचने, उद्धव ?" ॥७७॥

यों बोल गोपियाँ लाज छोड़ हैं फूट-फूट रोने लगती ।
उनके आँसूमें मिला स्वयं आँसू रोती माता धरती ॥
सुन उपालम्भकी वे बातें, लख गोपीजनकी व्याकुलता,
उद्धव अवाक रह गये देख उस प्रेम-राज्यकी व्यापकता ॥७८॥

कुछ शब्द सान्त्वनाके कहकर उद्धवने उनको शान्त किया ।
फिर कहा, "तुम्हारे प्रियतमने तुमको कुछ है संदेश दिया ॥"
पर इसी बीच था भ्रमर एक वह गुन-गुन करता घूम रहा ।
आ राधारानीके समीप, फूलोंको था वह चूम रहा ॥७९॥

राधाको भावावेश हुआ, वह कृष्णध्यानमें थी तन्मय ।
भौंरा भी निश्चय कृष्णदूत है, मान लिया उसका परिचय ॥
बोली, "प्रतीति होती, भौंरा ! हमसे कुछ कहना चाह रहा ।
पर नहीं कृष्णकी बातोंका, फिर तेरा हो विश्वास कहाँ ? ॥८०॥

"तेरा स्वभाव तेरे स्वामीसे है भौंरे ! मिलता-जुलता ।
दोनोंका ही तो दम्भ आज है साफ-साफ सचमुच खुलता ॥
तू फूलोंका रस चूस-चूस फिर उनको छोड़ चला जाता ।
तेरे स्वामीका भी स्वभाव तो ऐसा ही है दिखलाता ॥८१॥

"पर पुष्पोंने तो है सीखा निज सौरभ देना-ही-देना ।
सच बोल, भ्रमर ! क्या है चाहा तुझसे बदलेमें कुछ लेना ?
निज देकर भी सर्वस्व पुष्प हैं सदा हृदयको खोल रहे ।
'आ जा, भौंरे ! तेरे हित है; ले ले जीवन', हैं बोल रहे ॥८२॥

"तू सदा रहे डूबा रसमें, है पुष्प-पुष्पकी चाह यही ।
तू किसी पुष्पसे रस ले ले, है धन्य पुष्पको द्वेष कहीं ?
यह द्वेषहीन, यह है अनन्य, यह आत्मसमर्पण निरभिमान ।
क्या तूने पहचाना उनको ? क्या कभी दिया है उचित ध्यान?" ॥८३॥

सुन गुन-गुन करता फिर भौंरा; राधा बोली, "यह झूठ बात—
श्रीकृष्ण गोपियोंको करते हैं याद निरन्तर दिवस-रात ॥
हम तो चेष्टा करतीं—उनको भूलें, पर भूल नहीं सकतीं ।
यह रोग सदा बढ़ता जाता, औषध इसकी ज्यों-ज्यों करतीं ॥८४॥

"चिकनी-चुपड़ी निज बातोंसे तेरे स्वामीने हमें छला ।
फिर दूर भाग तू, रे भौंरे ! फिर भी मत तू ला वही बला ॥"
कहकर राधाने मुँह फेरा, भौंरा उड़कर नीचे आया ।
राधा बोली, "तू पैर पकड़कर मत फैला दे फिर माया ॥८५॥

"थी कृष्णचन्द्रकी यही रीति, पर गोपीजनका क्षुद्र मान–
क्या उनके सम्मुख टिका कभी, पा वचनामृतका सहज दान ?
तू मना रहा है हमें, भ्रमर ! सच बोल,तुझे है क्या कहना ?
हा ! कृष्णचन्द्रसे विलग हमें, बतला, कबतक होगा रहना? ॥८६॥

"दीनोंके वत्सल हरिने है क्यों हम दीनोंको छोड़ दिया ?
नाता अनन्त प्रेमार्णवने क्या हम मीनोंसे तोड़ लिया ?
गोपीजनके प्रति कृष्ण-प्रेम है अनिर्वाच्य तू बतलाता ।
इसका प्रमाण निज स्वामीसे ला, बोल, हमें कब दिखलाता? ॥८७॥

"नवजीवनमें नववधुओंका नित-नित पाकर प्रेमोपहार,
वे सुखी हमारे हों प्रियतम, जग-हित चिरायु हों वे उदार ॥
पर निज धन-जन-कुल-मर्यादा, सब कुछ छूटा जिनके कारण–
वे बतलायें–हम करें, भ्रमर ! कैसे अपना जीवन धारण?" ॥८८॥

थीं सभी गोपियोंके मनकी बातें राधा वह बोल रही ।
उद्धवके सम्मुख प्रकट हुआ सर्वोच्च प्रेम-आदर्श सही ॥
उड़ गया भ्रमर, पर भ्रमरगीतमें फूलोंका कहकर चरित्र–
राधाने जगमें दिखलाया यह प्रेम-तत्वका अमिट चित्र ॥८९॥

उद्धवजी समझ नहीं पाये, उनको कैसे क्या समझायें ।
वे थीं अगाध निस्सीम सिन्धु, उनकी वे थाह कहाँ पायें ?
पर ज्ञानी उद्धवको पहले ज्ञानोपदेश तो था देना ।
गुरु बनकर नहीं, शिष्य बनकर,फिर उनसे था शिक्षा लेना ॥९०॥

उद्धव बोले, "हे गोपीजन ! मनमें चिन्ता तुम करो नहीं।
है पूर्ण सच्चिदानन्द ब्रह्म, बस, नित्य ध्यान तुम धरो वहीं ॥
वह निर्गुण है, वह निराकार, वह चिन्मय ज्योतिर्मयसत्ता।
घट-घटवासी वह अविनाशी, वह सगुण सृष्टिका है कर्त्ता ॥९१॥

"है दृष्ट जगत यह स्वप्नतुल्य, है मृग-मरीचिकारूप सभी।
माया ही ऐसा दिखलाती, जो कभी न था होगा न कभी ॥
है यथा काष्ठमें अग्नि, दुग्धमें है नवनीत छिपा रहता।
यह जगत ब्रह्ममय है, परंतु वह ब्रह्मज्ञानसे ही मिलता ॥९२॥

"बस, उसी ब्रह्मकी प्राप्ति-हेतु, हे अनघ गोपियो ! करो यत्न।
सबसे बढ़कर पुरुषार्थ यही, तुम प्राप्त करो वह ज्ञानरत्न ॥
तुम सब द्वन्द्वोंसे छूट, जगतको कर अनित्य मिथ्या प्रतीत,
उस ब्राह्मी स्थितिको प्राप्त करो, हो सत्व-रजस्तमसे अतीत" ॥९३॥

उद्धवकी इन बातोंको सुन वे सभी गोपियाँ यों बोलीं—
"ये तत्वज्ञानकी हैं बातें, हम क्या समझें अनपढ़ भोली ?
तुम जगत ब्रह्ममय कहते हो, यह सकल कृष्णमय है निर्मल।
है ब्राह्मी स्थितिकी चाह नहीं, सम्बन्ध कृष्णसे है केवल ॥९४॥

"जलमें, स्थलमें, गिरिमें, वनमें, इस विश्व चराचरमें, उद्धव !
वे रोम-रोममें, अणु-अणुमें हैं झाँक रहे, देखो, माधव ॥"
'पकड़ो-पकड़ो' कहती-कहती आगे बढ़तीं, खिल-खिल हँसतीं।
'हा ! भाग गये, हा ! भाग गये' कहकर अधीर रोने लगतीं ॥९५॥

चिन्तित, जागृत, उद्विग्न, मलिन, कृश, व्याधिग्रस्त करतीं प्रलाप।
उन्मत्त, मुग्ध, हो मृतकतुल्य, दस विरह-दशाकी लिये छाप ॥

उद्धव सम्मुख प्रकटे, उनमें हैं स्तम्भ, स्वेद, सात्त्विक विकार—
वैवर्ण्य, कम्प, स्वरभङ्ग, अश्रु, रोमाञ्च, प्रलय आठों प्रकार ॥९६॥

उनकी अचिन्त्य ऐसी स्थितिका उद्धवको था अनुमान नहीं।
थीं ब्रह्मज्ञानकी सीमाको कर पार, अहो! उस पार कहीं ॥
कुछ देर वाद गोपीजनको जब हुआ प्राप्त कुछ बाह्यज्ञान।
उद्धव बोले, "अब प्रियतमके संदेशामृतका करो पान ॥९७॥

"है कहा कृष्णने,' मैं करता स्वीकार सदा होकर निश्छल।
बस, तुम भक्तोंकी स्मृति ही तो मेरे जीवनका है सम्बल ॥
मैं क्षरसे, अक्षरसे बढ़कर हूँ पुरुष, अतः हूँ 'पुरुषोत्तम'।
पर गोपीजनका नित्यदास होनेमें गौरव है हरदम ॥९८॥

"वह नहीं मिलनमें प्रेम-स्वर्ण, पर विरहानलमें बार-बार—
तप-तपकर निखर-निखर जाता,सब जल जाते उसके विकार ॥
मेरे प्रति गोपी-प्रेम बढ़े—इसका सदैव हूँ अभिलाषी।
वृन्दावन छोड़ चला आया मैं, यहाँ बना मथुरावासी ॥९९॥

"हूँ सब जीवोंमें आत्मतत्व, हैं सभी जीव मेरे स्वकीय।
है नहीं अन्य साझा मेरा, यह निखिल सृष्टि ही है मदीय ॥
जगसे मेरा अभिन्न नाता है, तुम लोगोंने समझ लिया।
बस, मधुर भावसे पानेका मुझको तुमने संकल्प किया ॥१००॥

"हो सभी स्वकीया, पर तुममें हैं परकीयाके दिव्य भाव,
मुझ प्रियतममें तुमलोगोंका जो दोषदृष्टिका है अभाव ॥
मिलनेकी उत्कट उत्कण्ठा, करतीं मेरा अविरल चिन्तन।
विपरीत स्वकीयाके, प्रियसे निष्काम सदा रखतीं निज मन ॥१०१॥

"यह शान्त[1], दास्यसे[2] भी ऊँचा, यह सख्य[3] और वात्सल्य[4] पार।
तुम गोपीजनका मधुरभाव करता तुमको है मदाकार॥
क्षणमात्र कभी क्या है तुमसे मेरा विछोह होना सम्भव?
गोपी माधव, माधव गोपी, हम एकरूप गोपी-माधव" ॥१०२॥

सुन प्रियतमका संदेश दिव्य थी गोपीजनको परम शान्ति।
जो परमानन्द हुआ उनको, उससे मुखपर थी दिव्य कान्ति॥
ला ध्यान-मार्गसे प्रियतमको उर-सिंहासनपर बैठाया।
प्रियतमसे एकीभाव हुआ, सब मिटी दीनताकी छाया॥१०३॥

गोपीजनका है कृष्णप्रेम बढ़ता जाता पल-पल नव-नव।
"यह भूतल है या दिव्य धाम?" यह दृश्य देख बोले उद्धव—
"निज स्वजन, आर्यपथको भी है इन ललनाओंने त्याग दिया।
श्रुतियाँ भी जिनको खोज रहीं, दुर्लभ मुकुन्द-पद प्राप्त किया॥१०४॥

---

१. भगवान् सर्वोपरि सत्ता हैं, वे सम्पूर्ण चराचर जगत्के स्वामी हैं, हम सब उनके अंश, उनकी प्रजा हैं, उनकी भक्ति जीवमात्रका परम कर्तव्य है—इस प्रकारके भावको 'शान्तभाव' कहते हैं।

२. भगवान् मेरे अपने स्वामी हैं, मैं उनका सेवक—उनका निजजन हूँ—इस भावको 'दास्य' कहते हैं।

३. भगवान् मेरे सखा हैं, मैं उनका सखा हूँ, उनसे मेरा बराबरीका सम्बन्ध है—इस भावका नाम 'सख्य' है।

४. भगवान् मेरे पोष्य हैं, मेरे लाल्य हैं, मेरे सर्वथा अधीन हैं, रक्षणीय हैं—इस भावको 'वात्सल्य' कहते हैं।

"कर गोपीजन-पद-रेणु प्राप्त सौभाग्य अहो! इनका अनन्य।
वृन्दावनकी ये गुल्म-लता-ओषधियाँ भी हैं धन्य-धन्य!॥
इनमें पैदा जो मैं होता, गोपी-पद-रज नित-नित पाता।
उस रजसे कर पवित्र जीवन, अतिशय कृतार्थ मैं हो जाता"॥१०५॥

जब पुनः गोपियाँ हुईं स्वस्थ, उद्धवजीने स्वीकार किया—
हरि-पराभक्तिका गुरु उनको, अपनेको गोपी मान लिया॥
इस तरह प्रेममें छके नित्य कुछ दिन वे वृन्दावन रहकर।
मथुराको लौटे नन्द आदि सब गोप-गोपियोंसे मिलकर॥१०६॥

वह देख, लेखनी! मथुरामें हैं गले मिले उद्धव-मुरारि।
कैसे प्रेमिल दो नयन-युग्म हैं बरसाते आनन्द-वारि॥
हरिने पूछा, 'प्यारे उद्धव! बतलाओ व्रजका समाचार'।
उद्धव बोले, "क्या कहूँ, कृष्ण! व्रज तो सारा है त्वदाकार॥१०७॥

"उन नन्द-यशोदाको, मैंने सब गोप-गोपियोंको पाया।
हे कृष्ण! सदा तुझसे अभिन्न; वे हैं सजीव तेरी छाया॥
तेरे चिन्तनमें नन्द आदि करते अपना जीवन व्यतीत।
पर गोपीजनका कृष्ण-प्रेम शाब्दिक चित्रणसे है अतीत॥१०८॥

"फिर भी मैंने जो कुछ समझा, अपना अनुभव मैं बतलाता—
उस प्रेम-विलक्षणतासे मैं आनन्दित-विस्मित हो जाता॥
शृङ्गार वहाँ, पर राग नहीं; है भोग, नहीं पर अङ्ग-सङ्ग।
क्रन्दन उसमें, पर दुःख नहीं; है देह 'अहं' का नहीं रंग॥१०९॥

"आसक्ति वहाँ, अज्ञान नहीं; होता वियोग-विरहित विछोह।
सेवा होती, अभिमान नहीं; उसमें ममता, पर नहीं मोह॥
है मान वहाँ, पर धैर्य नहीं; है त्याग, नहीं संन्यास किंतु।
अनुराग वहाँ, कामना नहीं; है जगत, नहीं माया परंतु॥११०॥

"है विरह वहाँ, वेदना नहीं; है मुक्ति, किंतु लयका अभाव।
है तृप्ति, अनिच्छा नहीं किंतु; सुख है, न सुस्पृहाका प्रभाव॥
है ब्रह्म, नहीं पर वह निर्गुण; है ज्ञान, नहीं ज्ञानी परंतु।
उसमें अद्भुत मैंने देखा—होता प्रलाप, मूर्च्छा न किंतु" ॥१११॥

सुनते-सुनते गोपी-चरित्र वे कृष्ण हुए गोपी-स्वरूप।
हैं कृष्ण? नहीं, सम्मुख गोपी वह एक विरहिणी है अनूप॥
तादात्म्य देख गोपीजनसे, हरिका ऐसा अद्भुत बाना,
चरणोंमें लोट गये उद्धव, अपनेको भी गोपी माना ॥११२॥

वह देखो—गोपी बन बैठे हरि-उद्धव—दो मित्र।
कृष्ण-कृपासे चतुर लेखनी! इनका खींचो चित्र॥
वह सजीव जब बने, उसे तुम मेरे उरके बीच—
झट चिपका दो, डरो नहीं तुम, यद्यपि मैं जन नीच॥११३॥

उरके भीतर उन दोनोंपर रखकर उरकी दृष्टि,
उर मेरा तन्मय बन जाये, बदल जाय यह सृष्टि॥
ये किशोर हरिकी लीलाएँ, इनमें ले विश्राम।
युवा कृष्णका चरित लेखनी! लिखना है अभिराम॥११४॥

दशम सर्ग

उद्धवके साथ लेखनी मथुरामें आ गयी।
अब नींदसे जागो, पुनः विश्राम पा गयी॥
सेवा है तुच्छ, किंतु अधिक मान हैं लेते।
"आगे बढ़ो" श्रीकृष्ण हैं आदेश यों देते॥ १॥

जब लेखनी आगे बढ़ी, हरिने बुला लिया।
वृन्दाटवी प्रस्थानका आदेश कर दिया॥
बोले, "तुम्हें फिर नित्य निकुञ्जोंमें है जाना।
गोपीजनोंके मध्यमें मुझको वहाँ पाना"॥ २॥

तब लेखनी बोली, "प्रभो! मथुरामें हैं यहाँ।
वृन्दाटवीमें आपको पाऊँगी मैं कहाँ"॥
हरिने कहा, "तुम, लेखनी, अनभिज्ञ हो निश्चय।
मेरे स्वरूपका कठिन पाना ही है परिचय॥ ३॥

"वृन्दाटवीको छोड़ एक पैर भी जाना—
सम्भव नहीं मेरे लिये, वह प्रेम भुलाना ॥
जो देह-गेह-नेह, कुटुम्बोंको छोड़ते ।
मेरे लिये संसारका नाता हैं तोड़ते ॥ ४ ॥

"अपने सुखोंकी वासना जिनमें नहीं बचती ।
प्रियतम सुखी रहें, सदा इच्छा यही रहती ॥
साहस नहीं, ऐसे जनोंको छोड़ मैं सकूँ ।
मिलना वे चाहते, भला, तब मैं कहाँ रुकूँ ?"॥ ५ ॥

फिर लेखनी बोली, "प्रभो ! बातें रहस्यकी ।
मैं तुच्छ हूँ, इनको नहीं कुछ भी समझ सकी ॥
अपने स्वरूपोंकी मुझे बातें बताइये ।
मैं जानना हूँ चाहती, कुछ मत छिपाइये" ॥ ६ ॥

हरिने कहा, "मैं गुणरहित, आकाररहित हूँ ।
निज योगमाया-युक्त हो आकारसहित हूँ ॥
मलिना मेरी माया जगत जड रूप बनाती ।
जगसे मुझे वह मोहके पर्देमें छिपाती ॥ ७ ॥

"नभमें हैं सूर्य-रश्मियाँ ज्यों मेघ बनाती ।
उस मेघके आवरणमें छिप हैं स्वयं जाती ॥
इस भाँति मायामें ढँका, मैं खेल खेलता ।
जो मानता ऐसा नहीं, वह दुःख झेलता ॥ ८ ॥

"तत्वज्ञ तो जडरूपमें मुझको ही देखते ।
इससे न त्रिविध तापसे वे दुःख झेलते ॥
मलिना मेरी मायाका है यह रूप बताया ।
इससे परे है दूसरी, जो दिव्य है माया ॥ ९ ॥

"यह योगमाया है मेरी इसका ही आवरण।
अवतार हूँ लेता जभी, करता इसे धारण॥
होता हूँ प्रकट विश्वमें चादरको ओढ़कर।
पहचानते हैं सब नहीं, भक्तोंको छोड़कर॥ १०॥

"परित्राण हो सब साधुओंका, पापियोंका क्षय।
हो धर्मकी संस्थापना, हो पाप पराजय॥
यह हेतु है, करता हूँ विविध देह मैं धारण।
सच, प्रेमियोंका प्रेम है अवतारका कारण॥ ११॥

"खग पंखहीन है यथा माँको निहारता।
गोवत्स क्षुधित हो यथा माँको पुकारता॥
प्रियतम-वियोगमें यथा पत्नी है विलखती।
प्रियतमकी बाट जोहती दिन-रात सिसकती॥ १२॥

"जब इस तरह हैं भक्तजन मेरे लिये रोते।
दर्शनकी लालसा लिये बेचैन हैं होते॥
वह प्रेमका आह्वान, वह मिलनेकी बेचैनी,
कैसे मैं सह सकूँ, भला, हूँ प्रेमका ऋणी॥ १३॥

"जो स्थूल जगत सामने है सत्य भासता।
उसका नहीं अस्तित्व, नहीं रूप है मिलता॥
इस बातपर विश्वास कर जो यत्न हैं करते।
अन्तर्जगत जो सूक्ष्मतर उसको हैं देखते॥ १४॥

"अन्तर्जगतमें मुख्यतः दो स्तर हैं हो जाते।
अधिकार-प्राप्त संतजन ही देख हैं पाते॥
उस एकमें मेरी ही विविध शक्तियाँ रहतीं।
सृष्टि-स्थिति-संहार आदि कर्म हैं करतीं॥ १५॥

"इन शक्तियोंके ही करोंसे चक्र घूमते।
ब्रह्माण्ड अनेकों तुरत बनते हैं बिगड़ते॥
इसके परे अन्तर्जगतका दूसरा है स्तर।
तुलनामें जो पहलेसे भी है दिव्य, सूक्ष्मतर॥ १६॥

"साकार सगुण रूप उपासक यहाँ आते।
वे एक बाद दूसरे स्तर पार हैं जाते॥
है अन्तमें आता त्रिविध तापोंका विनाशक।
वह सूर्य, चन्द्र, अग्नि ज्योतिका भी प्रकाशक॥ १७॥

"वह सूक्ष्मतम, वह दिव्यतम, वह धाम परम है।
वह भक्तजन-गन्तव्यकी सीमा ही चरम है॥
यह धाम ही स्तर-भेदसे, जो स्वयं प्रकाशता।
भक्तोंके ही भावोंके है अनुसार भासता॥ १८॥

"सब वैष्णवोंका, बस, वही वैकुण्ठ धाम है।
शैवोंके ही उस धामका कैलास नाम है॥
मेरे स्वरूप रामका साकेत है वही।
मेरे ही कृष्ण रूपका गोलोक भी वही॥ १९॥

"साकेतकी, गोलोककी लीलाका अंश ही।
सागरसे बूँदकी तरह आता यहाँ सही॥
लीलावतार हेतु है भक्तोंकी कामना।
द्योतक है पूर्ण हो गयी भक्तोंकी साधना॥ २०॥

"भूलोकमें मथुरा तथा व्रजभूमि इस समय—
गोलोक परमधाम है—यह जान लो निश्चय॥
आदेश मैं देता तुम्हें,—वृन्दाटवी जाओ।
लीलाएँ देख-देख वहाँ प्रेमसे गाओ॥ २१॥

"पर लेखनी, रहस्यकी एक बात है यहाँ।
वृन्दाटवीमें, मैं तुम्हें हूँ भेजता जहाँ॥
यों सामने सबके वहाँ मैं मिल नहीं सकता।
केवल मैं गोपियोंके मध्यमें वहाँ रहता॥ २२॥

"सब सहचरीगण, मञ्जरीगण और दूतियाँ।
राधा-समेत नित्य किशोरी हैं गोपियाँ॥
मैं नित्य हूँ किशोर मधुर भावसे सेवित।
हैं एकमात्र गोपियाँ लीलामें सम्मिलित॥ २३॥

"होता नहीं आपन्न गोपी भावसे जबतक।
मिलता नहीं प्रवेश प्रेम-राज्यमें तबतक॥
उन पार्थ-शिव-उद्धव-सदृश भक्तोंने भी तभी—
पाया प्रवेश राज्यमें, गोपी बने जभी॥ २४॥

"मैं जान गया, लेखनी, इच्छा है तुम्हारी।
लीलाएँ वे निकुञ्जकी लगतीं तुम्हें प्यारी॥
बातें सभीके मनकी मैं हूँ नित्य देखता।
अतएव निकुञ्जोंमें फिर तुमको हूँ भेजता"॥ २५॥

जब लेखनीने कृष्णकी यह प्रेरणा पायी।
मथुरासे लौटकर पुनः वृन्दाटवी आयी॥
इस बार तो वृन्दाटवीका दृश्य था नवल।
कुछ अन्य वस्तु थी नहीं, बस, कृष्ण थे केवल॥ २६॥

लावण्यकी सीमा चरम श्रीकृष्ण-देहसे—
राधा प्रकट हुईं अहो, मानो स्वगेहसे॥
राधाके अङ्गसे प्रकट दोनोंको घेर कर—
सेवामें लग गयीं असंख्य गोपियाँ सत्वर॥ २७॥

शंकरने एक बार था नारदको बताया।
वह ध्यान-योग्य दृश्य यहाँ सामने आया॥
श्रीकृष्णके अङ्गोंसे प्रकट सौम्य सुसज्जित—
यमुनाके थी पश्चिम तरफ वृन्दाटवी विस्तृत॥ २८॥

फैलायी कल्पवृक्षने ऊपरसे सुछाया।
सौरभ तथा सौन्दर्यसे पुष्पोंने लुभाया॥
जो दिव्य सिंहासन वहाँ रत्नोंसे था जटित।
उसपर विराजमान युगल रूप थे सेवित॥ २९॥

नव मेघको भी नीलश्याम वर्ण लजाता।
पीला दुकूल कृष्णका किसको न लुभाता॥
श्रीकृष्ण-देह-कान्ति प्रभासे थी सुलक्षित।
ज्यों स्निग्ध ज्योतिपूर्ण कोटि सूर्य नवोदित॥ ३०॥

रत्नों तथा पुष्पोंकी मालाओंसे विभूषित—
श्रीकृष्ण-अङ्ग-अङ्ग था अत्यन्त सुशोभित॥
आननकी छवि कोटि शशाङ्कोंको लजाती।
छवियोंके ही उद्गमकी क्या तुलना कहीं आती?॥ ३१॥

मस्तक मयूर-पुच्छ मुकुटसे था चमकता।
सिरपर कनेर पुष्प आभूषण भी दमकता॥
घुँघराली थी अलकावली अत्यन्त मनोहर।
डँसतो थी चित्त दूरसे नागिन हो ज्यों सुन्दर॥ ३२॥

चन्दन-तिलक-मण्डल ललाट-मध्य सुहाता।
कुङ्कुमका बिन्दु बीचमें मनको था लुभाता॥
श्रीकृष्णके सुन्दर बड़े दो नेत्र थे चञ्चल।
राधाकी ओर पड़ रहे तिरछे थे वे पल-पल॥ ३३॥

कानोंमें कुण्डलोंकी भी शोभा अधिक होती।
उन्नत थी नासिका, था जहाँ झूकता मोती॥
फल विम्ब थे पके हुए मानो अरुण अधर।
पड़ती थी कुन्द-दन्तपंक्ति-ज्योति भी उनपर॥ ३४॥

दोनों कपोल कृष्णके दर्पण समान थे।
जो स्वेद कणोंसे, अहो! शोभायमान थे॥
द्विभुजोंमें कड़े और बाजूबंद शोभते।
भक्तोंके चितको, अहो! शोभासे मोहते॥ ३५॥

बायाँ था हाथ कृष्णका मुरलीसे सुशोभित।
दायेंमें कमलका कुसुम कमनीय प्रस्फुटित॥
प्रत्येक अंगुलीमें रत्नकी थी अंगूठी।
श्रीकृष्णके अङ्गोंकी थी शोभा ही अनूठी॥ ३६॥

सुन्दर कमरमें शोभती थी चारु करधनी।
नूपुरकी भी शोभा, अहो! पैरोंमें थी घनी॥
सम्भव न कल्पना भी युगल रूपकी भूपर।
अब लेखनीकी दृष्टि पड़ी राधिका ऊपर॥ ३७॥

राधाका वर्ण तो तपा सोने-सा चमकता।
लावण्य अङ्ग-अङ्गसे सब ओर छिटकता॥
साड़ी थी दिव्य नील जरीदार मनोहर।
थे दिव्य अलंकार दिव्य अङ्ग-अङ्गपर॥ ३८॥

प्रियतमकी ओर लग रही आँखें थीं चकोरी।
वह मन्द थी मुसका रही हो प्रेम-विभोरी॥
राधाके गलेमें पड़े मनको थे मोहते।
रत्नोंके और मोतियोंके हार शोभते॥ ३९॥

वह तर्जनीको जोड़ अँगूठेसे उठाकर ।
प्रियतमके मुखमें डालती ताम्बूल थी सादर ॥
अति क्षीण कमरमें बँधी सुन्दर थीं करधनी ।
अत्यन्त ही अमूल्य वह रत्नोंकी थी बनी ॥ ४० ॥

पैरोंमें कड़े थे तथा नूपुर थे मनोहर ।
पैरोंकी अँगुलियोंमें थीं अँगूठियाँ सुन्दर ॥
यह रूप देख-देख नहीं तृप्ति हो रही ।
अब लेखनी आनन्दमें आपा थी खो रही ॥ ४१ ॥

लावण्य युगल रूपका इस बार था जैसा ।
देखा न लेखनीने था पहले कभी ऐसा ॥
झट दृश्य यह तो सामनेसे लुप्त हो गया ।
विस्मयमें पड़ी लेखनी, अब दृश्य था नया ॥ ४२ ॥

अत्यन्त ही सुन्दर वहाँ एक गोपिका आयी ।
राधाके ही आदेशसे ताम्बूल थी लायी ॥
तब लेखनी बोली, "जगतसे रूप यह न्यारा ।
बतला दो मुझे, सुन्दरी, परिचय क्या तुम्हारा?" ॥ ४३ ॥

अत्यन्त ही सौहार्दसे अनुरागमें रँगी ।
वह प्रेममयी गोपिका तब बोलने लगी—
"प्रियतमके हेतु मैं यहाँ ताम्बूल हूँ लायी ।
राधा-कृपा मिली मुझे, आज्ञा यही पायी ॥ ४४ ॥

"हैं नित्य निकुञ्जाधिदेव श्याम विहारी ।
वे नित्य निकुञ्जेश्वरी राधा हैं हमारी ॥
ललिता हैं राधिका-सखी, हैं रूप-मञ्जरी ।
उनकी मैं अनुगता करूँ प्रियतमकी चाकरी ॥ ४५ ॥

"राधाकी सोदरा बहिन मैं नित्य नयी हूँ।
राधाकी कायव्यूह, किंतु श्याममयी हूँ॥
प्यारीको रिझाना मुझे, प्रियतमको रिझाना।
मैं हूँ अनङ्गमञ्जरी, मेरा यही बाना" ॥ ४६ ॥

इतनेमें सामने कदम्ब वृक्षके ऊपर।
मुरलीकी तान छेड़ रहे श्याम थे नटवर॥
जब दृष्टि पड़ी, मञ्जरी हो प्रेमसे पुलकित—
प्रियतमसे बोलने लगी वचनावली सुस्मित ॥ ४७ ॥

"उतरो कदम्बसे, तुम्हें ताम्बूल है देना।
चरणोंको पकड़ प्रेमका पीयूष है लेना॥
सुख है तुम्हारा ही मेरा, देती तुम्हें तन-मन।
प्रियतम करो स्वीकार मेरा आत्मनिवेदन" ॥ ४८ ॥

चादर उतार देहसे फैला दिया भूपर।
वे प्रेमसे आकृष्ट हो रुकते कहाँ नटवर?
वे वस्त्रपर बैठे, तुरत चरणोंमें आ गिरी।
अलकोंसे पैर पोंछती बोली यों मञ्जरी ॥ ४९ ॥

"प्रियतम! पदारविन्द मैं अलकोंसे पोंछती।
अत्यन्त मृदुल देख इन्हें मनमें सोचती—
इन कंकड़ों-काँटोंसे कठिन भूमिमें कैसे—
चलते हैं प्राणनाथ ये, सुकुमार हैं ऐसे ॥ ५० ॥

"श्रम-बिन्दु हरूँ प्रेमसे आँचलसे हवा कर।
मैं निर्निमेष दृष्टिसे देखूँ तुम्हें जी भर॥
निज अङ्कमें लिटा तुम्हें, अलकोंको सँभालूँ।
सुख हेतु तुम्हारे मैं तुम्हें अङ्क लगा लूँ ॥ ५१ ॥

"चरणोंको मैं दबा रही, उपहार सँभालो।
राधाने हैं ताम्बूल दिये, प्रेमसे खा लो॥
चर्वित प्रसाद दो मुझे राधाने मँगाया।
इस हेतु उन्होंने मुझे वनमें है पठाया"॥ ५२॥

हँसकर कहा श्रीकृष्णने ताम्बूल चबाते—
"जो मञ्जरी! मनमें तुम्हारे भाव हैं आते॥
कहना हो चाहती, परंतु क्यों नहीं कहती?
प्रियतम तो मानती मुझे, संकोच क्यों करती?"॥ ५३॥

प्रेमाश्रु भरे नयन थे, गद्‌गद हुई वाणी।
ऐसी दशा होती जो प्रेम-प्राप्त हो प्राणी॥
घुटनोंको टेक बोलती आँचलको पसारे—
"मुझमें है कमी प्रेमकी नयनोंके हे तारे!॥ ५४॥

"आँचल पसार माँगती मैं प्रेम-भिखारिन।
व्याकुल बना दो प्रेमहित हे प्रेमके स्वामिन!
आँचलको भरो प्रेमके रत्नोंसे हे दानी!
हूँ प्रेम-भिखारिन, बनूँ मैं प्रेमकी रानी॥ ५५॥

"राधाके भावसे भरो उर, श्याम विहारी!
पल-पल बढ़ा दो प्रेम, मैं दासी हूँ तुम्हारी॥
तुम खींच लो तन-मन मेरा मुरलीकी तानसे।
कर दो निहाल प्रेमसिन्धु! प्रेमदानसे॥ ५६॥

"यह साज है, शृङ्गार है, यह वेष है, भूषण।
राधाने दिये हैं मुझे, करती हूँ मैं धारण॥
सुख है तुम्हें देता मेरा शृङ्गार जो ऐसा।
करना है मुझे, बस, वही तुम चाहते जैसा॥ ५७॥

"सखियोंके मनको प्रेमके जालोंमें फँसाते।
घायल बना, धोखा दे, हँसते भाग भी जाते॥
जालोंमें किंतु गुदगुदी, है घाव अनोखा।
प्रियतमके लिये प्रेमका वर्धक ही है धोखा॥ ५८॥

"घायल हुई सखियाँ हैं विरह-तापमें जलतीं।
तुमसे ही मिलन हेतु हैं व्याकुल हो तरसतीं॥
क्षणभरके लिये भी नहीं तुमको हैं भुलातीं।
तुमको न भूलसे भी कभी दोष लगातीं॥ ५६॥

"जलना भी विरह-तापमें आनन्द ही लाता।
प्रियतम! तुम्हारा किंतु अदर्शन न सुहाता॥
यह प्रेम-मिलन, प्रेम-विरहकी है मिचौनी।
जीतेगा कौन? बोल दो, क्यों बन रहे मौनी॥ ६०॥

"निज वैरियोंके भी तो हो भवतापको हरते।
कैसे, भला, सखियोंके विरह-तापको सहते?
तब शान्ति, दयासिन्धु! हो पाते वहाँ जाकर।
भीषण असह्य तापको क्षणमें ही मिटाकर॥ ६१॥

"प्रियतम! मेरे मनको भी तो तुमने ही चुराया।
बदलेमें यहाँ छोड़ दी निज मनकी ही छाया॥
अतएव है प्रेरित तुम्हींसे चाह भी मेरी।
यन्त्री! तुम्हारा यन्त्र मैं चरणोंकी हूँ चेरी॥ ६२॥

"चितवनके तीरसे हृदयका घाव बढ़ाते।
काली अलक नागिनसे मेरे मर्म डँसाते॥
आहें भरूँ, तड़पूँ अगर बेहोश हो, प्रियतम!
है वैद्य भी बनना तुम्हें, होना नहीं निर्मम॥ ६३॥

"पर वैद्यका दर्शन भी तो है घाव बढ़ाता।
घायलको भी इस घावका बढ़ना ही है भाता॥
घायलके हृदयमें घुसे हैं, वैद्य ही हँसते।
प्रेमीके प्रेम रूपमें प्रियतम ही हैं रहते॥ ६४॥

"हे वैद्य! तुम्हें सुख मिले, कष्टोंको सहूँगी।
कष्टोंका तो कहना ही क्या, प्राणोंको भी दूँगी॥
अपने तो सुखोंके लिये कुछ भी न माँगती।
जीकर तुम्हें सुख दूँ अगर, जीना हूँ चाहती॥ ६५॥

"चितवन तो तीर है सही, अलकें हैं ये नागिन।
अधरोंमें किंतु है सुधा, तुमसे मैं सुहागिन॥
मरने लगूँ अलकों तथा चितवनकी मारसे।
अधरोंकी सुधा डालना अधरोंके द्वारसे॥ ६६॥

"प्रेमिल करोंसे तीरको होगा निकालना।
उरमें बढ़े इस घावको चरणोंसे चाँपना॥
मुरलीकी मधुर तानसे विषको उतारकर।
नागिनसे डँसाना मुझे फिर तीर मारकर॥ ६७॥

"यों तीर चलाया करो, नागिनसे डँसाओ।
यह घाव हरा ही रहे, इसको न सुखाओ॥
इस घावका ही नित्य मधुर दर्द सहूँगी।
पगली हो तुम्हें ढूँढ़ती वन-वनमें फिरूँगी॥ ६८॥

"इस प्रेमके उन्मादकी है दिव्य कामना।
'प्रियतम सुखी रहें—बची है एक वासना॥
लिप्सा न भुक्ति-मुक्तिकी, नरकोंका नहीं भय।
प्रियतमने बाँह गह लिया, मैं बन गयी निर्भय॥ ६९॥

"विरहाग्निमें चाहो तो जलाओ मुझे, प्रियतम !
आँखोंसे किंतु वृष्टि हो प्रेमाश्रुकी हरदम ॥
फिर दूर करो, पास रखो, कुछ न कहूँगी ।
मैं तो तुम्हारे ही लिये प्राणोंको रखूँगी" ॥ ७० ॥

चरणोंमें लोटने लगी वह मञ्जरी रोती ।
निज आँसुओंसे कृष्णके चरणोंको थी धोती ॥
मूर्च्छित उसे श्रीकृष्णने निज अङ्क लगाया ।
प्रतिबिम्ब था उनका, उसे अपनेमें छिपाया ॥ ७१ ॥

मूर्च्छा मिटी, पर बात थी आश्चर्यकी बड़ी ।
राधाके ही चरणोंमें, वह थी मञ्जरी पड़ी ॥
तादात्म्य ही राधासे है श्रीकृष्णका ऐसा ।
इस लेखनीके सामने वह दृश्य था जैसा ॥ ७२ ॥

मूर्च्छासे जगी सोचती, "यह बात क्या हुई !
प्रियतमकी गोदसे यहाँ कैसे मैं आ गयी?" ॥
अपनी ही गोदमें, कभी राधाकी गोदमें,
अनुभव हैं कराते उसे प्रियतम विनोदमें ॥ ७३ ॥

'तुमपर प्रसन्न कृष्ण हैं'—राधाने बताया ।
चर्वित प्रसाद कृष्णका फिर प्रेमसे खाया ॥
सखियोंमें फिर वितरित हुआ उस मञ्जरीद्वारा ।
श्रीकृष्णका प्रसाद ही सखियोंको था प्यारा ॥ ७४ ॥

वस्त्रादि सेवाएँ विविध ताम्बूलकी नाईं—
करती थीं युगल रूपकी सब रात्रिमें आयी ॥
कुञ्जोंमें थीं चित्रित जहाँ कमनीय भित्तियाँ ।
कामोंमें लगी गा रही मुग्धा थीं गोपियाँ ॥ ७५ ॥

"सखियो ! सुनो जो राधिका प्रियतमके पास हो ।
इससे बड़ा आनन्द क्या मिलता हमें, कहो ॥
प्रियतम-प्रियाकी सेज हम फूलोंसे सजातीं ।
दोनोंकी प्रीति हेतु हम दोनोंको मिलातीं ॥ ७६ ॥

"मन श्यामका हम देखतीं राधा बिना आधा ।
होता है पूर्ण ह्लादिनी मिलतीं जभी राधा ॥
अतएव राधिकासे हम प्रियतमको मिलातीं ।
इसमें ही चरम तृप्ति हम सखियाँ सभी पातीं ॥ ७७ ॥

"प्यारी तथा प्रियतमको उर-मन्दिरमें बसातीं ।
भावोंसे पूजतीं उन्हें, विरदावली गातीं ॥
प्राणोंमें, रोम-रोममें बसते हैं हमारे ।
वृषभानु-दुलारी तथा ये नन्द-दुलारे ॥ ७८ ॥

"आगे लखें, पीछे लखें, दायें, लखें बायें ।
ऊपर लखें, नीचे लखें, सब ओर दिशाएँ ॥
बाहर लखें, भीतर लखें, सब ओर दीखता ।
आलोक युगल रूपका सब ओर फैलता ॥ ७९ ॥

"मधुमय अहो ! रसमय अहो ! आलोक-रश्मियाँ—
उमड़ा रहीं रस-सिन्धु, हम प्रियतमकी दासियाँ—
उसमें ही डूबती रहें सोती वा जागती ।
प्यारी तथा प्रियतमसे यह वरदान माँगतीं ॥ ८० ॥

"रसनामें सदा नाम हो, बस, राधेश्यामका ।
सेवा ही करें, काम हो, बस, आठों यामका ॥
जग राधेश्याममय लखें, इसमें न हो बाधा ।
राधामें श्यामको लखें हम, श्याममें राधा ॥ ८१ ॥

"हम श्यामके प्रतिबिम्ब हैं, राधामें समातीं।
राधाकी ही प्रतिमूर्तियाँ हम श्याममें आतीं॥
जो श्याम हैं, राधा वही, हम गोपियाँ वही।
है नाम-रूप-भेद, किंतु तत्व एक ही॥८२॥

"श्रीकृष्ण-प्रेमसिन्धुकी हम सब हैं ऊर्मियाँ।
राधा समष्टि ऊर्मि है, हम व्यष्टि गोपियाँ॥
उनकी हैं हम, उनमें हैं हम, उनसे ही निकलतीं।
दिन-रात हम आनन्दसे उनमें ही उछलतीं॥८३॥

"लीलाब्धि मधुर है, अनादि है, अनन्त है।
ऊपर हैं तरंगें, भले भीतर प्रशान्त है॥
जो प्रेम-नीर-वाहिनी सरिता नयी आती।
वह सिन्धु-उदरमें तरंग रूप है पाती॥८४॥

"रसराजका ही प्रेमरस सरिताएँ हैं लातीं।
उनका ही प्रेमरस सभी लहरें भी उठातीं॥
रसराज स्वयं कृष्ण हैं, राधा हैं स्वामिनी।
हम एक-एक गोपिका सेवाकी कामिनी॥८५॥

"लीलार्थ नित्य दो बने, पर नित्य एक हैं।
राधाकी कायव्यूह हम सखियाँ अनेक हैं॥
श्रीकृष्ण ही करते हैं विविध रूप ये धारण।
बनते स्वयं निमित्त, उपादान भी कारण॥८६॥

"हैं नित्य नटी राधिका लीलाके मञ्चपर।
श्रीकृष्ण सूत्रधार सगुण ब्रह्म परात्पर॥
लीलाएँ विरहमें चलें अथवा हों मिलनमें।
हम गोपियाँ सहायिका रहतीं सदा उनमें॥८७॥

"राधा सदा नयी-नयी लीलाएँ रचातीं।
हम गोपियोंके साथ हैं प्रियतमको रिझातीं॥
सौन्दर्यकी, माधुर्यकी, आनन्दकी धारा—
बहती यहाँ, न थाह है, मिलता न किनारा॥ ८८॥

"ये प्रेमकी लीलाएँ हैं अत्यन्त विलक्षण।
यह प्रेम अनिर्वाच्य है, बढ़ता है प्रतिक्षण॥
इस ध्वंसरहित प्रेममें रस नित्य है बढ़ता।
आश्चर्य! बन नया-नया फीका नहीं पड़ता॥ ८९॥

"इस प्रेम-राज्यमें बढ़े अनुरक्ति हमारी।
हैं रासके स्वामी तथा रासेश्वरी प्यारी॥
चरणोंमें प्रीति दो हमें, वृषभानु-दुलारी!
चरणोंमें प्रीति दो हमें, हे कुञ्जविहारी!" ॥ ९०॥

अब लेखनी इस प्रेम-राज्यमें थी विचरती।
दृश्योंको देख-देख मन आनन्दसे भरती॥
सेवा युगल सरकारकी करती थीं गोपियाँ।
थीं प्रेममें मुग्धा सभी, उनकी थी टोलियाँ॥ ९१॥

गोपीजनोंके थे प्रकट उद्गार हृदयके।
है कौन गोपी-प्रेमकी जो थाह पा सके॥
राधा-समेत थे प्रकट मन्मथके भी मन्मथ।
अब लेखनी अवाक् हुई, दृश्य था अकथ॥ ९२॥

लीलाकी सिद्धिमें लगीं सब ओर गोपियाँ।
लीला-समुद्रमें उठीं अब प्रेम-लहरियाँ॥
आने लगी, बस, एकसे बढ़ दूसरी लहरी।
यह धन्य हुई लेखनी आनन्दसे भरी॥ ९३॥

लीलाएँ रसमयी बनें—इस भावसे भावित—
थीं गोपियोंद्वारा सभी लीलाएँ संचालित ॥
ये चिन्मयी, भगवन्मयी लीलाएँ जो अभी—
अपने ही आपमें हुई थीं पूततम सभी ॥ ६४ ॥

थी रागकी, वैराग्यकी, अनुरागकी लीला ।
थी हर्षकी, थी शोककी, संकोचकी लीला ॥
थी हासकी, परिहासकी, सहवासकी लीला ।
रोनेकी, मानकी, पुनः अपमानकी लीला ॥ ६५ ॥

थी रुठनेकी और मनानेकी भी लीला ।
चुगलीकी, चाटुकारिताकी भी हुई लीला ॥
थी वासनाकी, भोगकी, आसक्तिकी लीला ।
भयकी थी, विकलताकी थी, बन्धनकी थी लीला ॥ ६६ ॥

थी रासकी, विलास-तिरस्कारकी लीला ।
थी तंग करनेकी, थी सतानेकी भी लीला ॥
लीलाएँ प्रकृतिजन्य विकारोंसे रहित थीं ।
निज सुखकी वासना-रहित, सब प्रेम-जनित थीं ॥ ६७ ॥

होती प्रतीत जो थी मिलनकी भी विरहमें ।
द्योतक हैं—'ये पहुँची है प्रेम-सिन्धुकी तहमें ॥'
देखा जो मिलनमें भी विरहका हुआ अनुभव ।
यह प्रेमका वैचित्त्य था राधामें ही सम्भव ॥ ६८ ॥

'आराध्य युगल हों सुखी'—निर्दोष थी नीयत ।
लीलाएँ त्यागपूर्ण थीं, सब भाव थे संयत ॥
दिव्यातिदिव्य प्रेममय सब भाव थे खोले ।
बीतीं जो कई रात्रियाँ, भगवान् यों बोले ॥ ६९ ॥

"इस प्रेममय साम्राज्यके भावोंकी ही छाया—
इस जड जगतमें खींचकर लाती जभी माया ॥
भावोंके विकृत रूप ही होते यहाँ लक्षित ।
सब इन्द्रियोंके सुखमें ही होते यहाँ व्यवहृत ॥१००॥

"नालीमें गिर अशुद्ध हो गङ्गाका नीर ज्यों ।
मायामें सना प्रेम ही बनता है काम त्यों ॥
अतएव 'काम, प्रेममें' महान् है अन्तर ।
है काम तिमिर, प्रेम है निर्मल यथा भास्कर ॥१०१॥

"सर्वोच्च है गोपीजनोंका प्रेम मैं कहता ।
गोपी बने बिना समझमें आ नहीं सकता ॥"
तब लेखनी बोली—"प्रभो ! मैं धन्य हो गयी ।
ये प्रेमकी लीलाएँ जो देखीं नयी-नयी" ॥१०२॥

हरिने कहा—"मैंने जो तुम्हें दृश्य दिखाये ।
निज योगमायाके यहाँ आवरण हटाये ॥
यह भाव-जगत छोड़ है मथुरा तुम्हें जाना ।
निज योगमायावृत मुझे जाकर वहाँ पाना ॥१०३॥

"मथुरामें, द्वारकामें, पुनः हस्तिनापुरमें ।
लीलाएँ देख-देखकर रखना उन्हें उरमें ॥
उत्तर चरित्रोंको लिखो—मैं चाहता यही ।
ऐ लेखनी ! उदास हो, है बात क्या सही ?" ॥१०४॥

तब लेखनी बोली, "प्रभो ! मुझ दीनपर ढरें ।
अब तो न कहीं जाऊँगी, मुझपर दया करें ॥
यह प्रेम-राज्य छोड़ मैं जाना न चाहती ।
साहस नहीं, मैं आपकी आज्ञाको टालती ॥१०५॥

"उत्तर चरित्रोंको लिखूँ इस राज्यमें रहकर।
ऐसा उपाय आप करें, श्याम ! हे नटवर !!"
श्रीकृष्णने कहा, "उपाय मैं हूँ बताता।
ललिता सखीको मैं यही आदेश सुनाता ॥१०६॥

"यह लेखनी ललिते, तुम्हारे पास रहेगी।
इसको अनङ्ग मञ्जरी निज करमें रखेगी ॥
निश्चिन्त हो लिखना तुम्हें है, लेखनी प्यारी !
लीलाओंमें मेरी घटी घटनावली सारी ॥१०७॥

"उनका विशद वर्णन जो तुम ललितासे सुनोगी।
रह मञ्जरीके हाथमें उनको ही लिखोगी ॥"
ललिताने झट, बस, लेखनीको पास ले लिया।
उसको उठा फिर मञ्जरीके करमें रख दिया ॥१०८॥

ललिताके पास बैठ अब हँसती है लेखनी।
राधा तथा माधवका कृपापात्र है बनी ॥
है पूछती, "ललिते सखी, संदेह मिटाओ।
मुझसे रहस्य खोल दो, कुछ भी न छिपाओ ॥१०९॥

"भूतलमें तो वियोगकी लीला है चल रही।
संयोग यहाँ देखती, है बात क्या सही ?
राधा थी बिलखती वहाँ, रोती थीं गोपियाँ।
आनन्दमग्न हैं यहाँ उनकी ही टोलियाँ" ॥११०॥

ललिताने कहा, "कृष्णने अत्यन्त कृपा कर—
है दृश्य दिखाये तुम्हें इस लोकमें लाकर ॥
इसका ही एक अंश ले भूतलमें इस समय—
दिखला रहे वियोगकी लीला दयामय ॥१११॥

"कैसा है चमत्कार योगेश्वरके योगका !
मानव-शताब्दि एकतक प्रियतम-वियोगका ॥
भूतलमें जा उस दु:खको राधा है भोगती ।
सखियोंके साथ रो रही, प्रियतमको खोजती" ॥११२॥

तब लेखनी बोली, "सखी, कृष्णावतारका—
है हेतु ज्ञात, किंतु अब राधावतारका—
भूतलमें हेतु क्या हुआ, यह ज्ञान कराओ ।
इनका चरित्र दिव्यतम, महिमा भी बताओ" ॥११३॥

ललिताने कहा, "देख लो यह दृश्य स्वयं ही ।
श्रीकृष्ण कृपा कर तुम्हें दिखला रहे सही" ॥
झट दृश्य नया सामने यह आ गया वहाँ ।
बैठी है रूठ मानिनी वह राधिका जहाँ ॥११४॥

"हरिने किया गोलोक-मर्यादाका उल्लङ्घन ।
विरजा[1]-विहारमें; यही, बस, कोपका कारण ॥
सखियाँ हैं मनाती उसे, श्रीकृष्ण मनाते ।
राधाका कोप किंतु वे उल्टे हैं बढ़ाते ॥११५॥

"राधाका यह व्यवहार पर अच्छा नहीं लगा—
उस गोप सुदामाको, जो राधाका था सगा ॥
की भर्त्सना उसने, दिया राधाने शाप पर ।
'राक्षस बनो तुम, दुष्ट रे ! भूलोकमें जाकर' ॥११६॥

'कम्पित सुदामा, हाय ! था इस शापको पाकर ।
श्रीकृष्णके भावी विरहसे था बना कातर ॥
बोला, 'तुम्हें भूलोकमें सौ वर्ष है रहना ।
श्रीकृष्णकी विरहाग्निमें तुमको भी है जलना' ॥११७॥

१—भगवान् श्रीकृष्णके नित्यधाम गोलोकमें श्रीराधाकी एक प्रिय सखी विरजा नामकी हैं। एक बार श्रीकृष्णको उनके समीप देखकर श्रीराधा अप्रसन्न हो गयीं—यह कथा ब्रह्मवैवर्त पुराण, श्रीकृष्णजन्मखण्डके प्रारम्भमें आती है। उसीकी ओर यहाँ संकेत है।

"इस शापसे, प्रतिशापसे दोनों बने कातर।
श्रीकृष्णने दी सान्त्वना तब बीचमें आकर॥
'है भूमिका अवतारकी भूतलमें हमारे।
राधा-सुदाम एक दूसरेके हैं प्यारे' ॥११८॥

तब कृष्णने यह दृश्य सामनेसे हटाया।
भूतलका एक पूर्व दृश्य सामने आया॥
गोकुलमें है वृषभानुकी राधा बनी पुत्री।
रानी है धन्य कीर्तिदा, है धन्य धरित्री ॥११९॥

थी भाद्र कृष्ण अष्टमी, प्रकटे थे वेणुधर।
राधा है प्रादुर्भूत एक पक्ष अनन्तर॥
देखा था लेखनीने कृष्ण-जन्मका उत्सव।
राधाका है उससे भी बढ़ा जन्म-महोत्सव ॥१२०॥

वृषभानु-भवन सामने आकर खड़े नारद।
मानो अभीष्ट लाभसे हों प्रेममें गद्गद॥
वृषभानु सपत्नीक ला रहे उन्हें भीतर।
नवजात कन्यकाको हैं दिखला रहे सादर ॥१२१॥

शत कोटिशः ब्रह्माण्डका सौन्दर्य है सीमित।
लावण्यकी उस मूर्तिके हैं नेत्र निमीलित॥
श्रीकृष्णकी है ह्लादिनी राधा यही निश्चय।
देवर्षि हैं आनन्दमग्न, पा चुके परिचय ॥१२२॥

निस्तब्ध हो, निश्चेष्ट हो, कुछ देर देखकर—
वृषभानु सपत्नीकको तब भेजकर बाहर—
राधाका कर रहे स्तवन गद्गद हुई वाणी।
नारदने कहा, "आज मैं कृत-कृत्य हूँ प्राणी ॥१२३॥

"है शारदा, है अम्बिका, है शक्ति वैष्णवी—
प्रत्येक तुम्हारी कला, तुम पूर्ण हो देवी !
शिशु-रूप छोड़ सामने बन नित्य किशोरी—
नयनोंके पथमें आओ कृष्णचन्द्र-चकोरी !" ॥१२४॥

श्रीकृष्ण-नाम सुन हुए दो नेत्र उन्मीलित ।
राधा किशोरी बन गयी सखियोंसे हो वेष्टित ॥
जो अङ्ग-अङ्गसे रहा लावण्य है निखर ।
नारदका अननुभूत है यह दृश्य मनोहर ॥१२५॥

राधाने कहा, "मैंने यह निज रूप दिखाया ।
नारद प्रथम वसुधामें तो तुमने ही है पाया ॥
मैं हूँ प्रसन्न", बोलती राधा है अलक्षित ।
है लेखनी समक्ष नया दृश्य उपस्थित ॥१२६॥

है दृश्य झंझावातका, है व्यस्त हवाएँ ।
भाण्डीर वनमें गर्जती काली हैं घटाएँ ॥
व्रजराज नन्द कृष्णको ले गोदमें खड़े ।
रक्षार्थ कर हरि-स्मरण चिन्तामें हैं पड़े ॥१२७॥

वृषभानुकी कन्या खड़ी राधा है सामने ।
साश्चर्य कहा देखकर राधाको नन्दने—
"बेटी, तेरी मुस्कानसे कानन है आलोकित ।
घर कृष्णको पहुँचा दे, मैं करता तुझे अर्पित ॥१२८॥

"मैं जान गया, तू नहीं कोई है मानवी ।
था गर्गने जैसा कहा, है शक्ति माधवी ॥"
बस, कृष्णको ले अङ्कमें राधा चली सत्वर ।
दिखलाते नया दृश्य लेखनीको हैं नटवर ॥१२९॥

है लेखनीके सामने अब रासका अभिनय।
राधा तथा माधवका है होता यहाँ परिचय॥
दोनों किशोर रूपमें होकर प्रकट यहाँ,
हैं प्रेमसिन्धु-मग्न वे आनन्दमें वहाँ॥१३०॥

तप षष्टि सहस्राब्द जो पुष्करमें किया था।
ब्रह्माने जो श्रीकृष्णसे वरदान लिया था॥
राधाकी प्रीति हेतु वह पूरेगी आज ही।
भाण्डीर-वनमें आ गये ब्रह्मा यहाँ वही॥१३१॥

राधा तथा माधवकी कर साष्टाङ्ग वन्दना,
अज प्रेममग्न हो गये, पूरी है साधना॥
दोनोंके बीच वेद-विधिसे अग्नि जलाकर,
करवा रहे हैं कर-ग्रहण बनकर पिता सादर॥१३२॥

एकान्तमें वन-प्रान्तमें ब्रह्मासे सम्पादित।
व्रजवासियोंसे सर्वथा अज्ञात अलक्षित॥
है लेखनी सफल विवाह-दृश्य देखकर।
नूतन है दृश्य देखती, दिखला रहे नटवर॥१३३॥

वन-प्रान्तमें राधा गयी फूलोंको तोड़ती।
'वनका है नाम क्या सखी ?'—ललितासे बोलती॥
ललिताने कहा, 'हे सखी, वृषभानु-दुलारी!
है कृष्णकी क्रीड़ा-स्थली वृन्दाटवी प्यारी'॥१३४॥

अजसे विहित निज कृष्णसे बातें विवाहकी—
निज योगमाया वश नहीं वह याद कर सकी॥
पर कृष्ण-नामने उसे आकृष्ट कर लिया।
उर-प्राण, तन-मनकी सभी चेष्टाको हर लिया॥१३५॥

कृश अङ्ग राधाके हुए, बस, एक ही दिनमें ।
कहती किसीसे कुछ नहीं, क्या बात है मनमें ।।
अत्यन्त ही जब प्यारसे ललिता है पूछती ।
'जादू है कृष्ण-नाम'—राधा है बोलती ।।१३६।।

है कृष्ण-मिलनके लिये अत्यन्त उत्कण्ठित ।
इतनेमें सुन मुरलीका रव राधा हुई मूर्च्छित ।।
रव बंद हुआ, राधिका तब होशमें आयी ।
नयनस्थ किंतु श्याम घटा वृष्टि है लायी ।।१३७।।

वह चित्र कला-दक्ष विशाखा है बनाती ।
प्रियतमका चित्र राधिकाके सामने लाती ।।
है सोचती, 'राधिकाको कुछ तो शान्ति मिलेगी ?
प्रियतमका चित्र देख कुछ तो धैर्य धरेगी' ।।१३८।।

बढ़ती है चित्र देख पर राधाकी विकलता ।
है काँपती मुरझा गयी सोनेकी ज्यों लता ।।
वह एक बार देख पुनः देख न पाती ।
है आँसुओंसे दृष्टि-शक्ति रुद्ध हो जाती ।।१३९।।

कातर है बनी राधिका थर-थर है काँपती ।
प्राणान्त पीड़ा पा रही, मानो है हाँपती ।।
सखियाँ हैं हेतु पूछतीं, राधा यही कहती—
"मुझसे बड़ी कुलटा, सखी ! वसुधा कहीं रखती ? ।।१४०।।

"वह कृष्ण, वह वंशीका रव जिसने है सुनाया ।
वह व्यक्ति जिसे चित्रमें तुमने है दिखाया ।।
तीनोंके प्रेममें अहो ! क्रमशः हूँ मैं फँसी ।
नारी हूँ अधम, हाय ! मैं नरकोंमें आ धँसी" ।।१४१।।

यह बोलती राधा तुरत बेहोश हो जाती।
सखियाँ उसे उपचारसे हैं होशमें लाती॥
कहती हैं, "अरि बावरी, तू व्यर्थ खिन्न है।
वे एक ही तो व्यक्ति है, तीनों न भिन्न हैं" ॥१४२॥

राधाको मिली शान्ति, अब सखियाँ हैं हँस रही।
हैं कृष्णसे राधा-मिलनका यत्न कर रही॥
राधाका प्रेम-पत्र ले ललिता सखी जाती।
वह कृष्णसे राधाकी दशा भी है सुनाती॥१४३॥

राधाके प्रति है अगाध प्रेम तो भीतर।
पर प्रेम-वृद्धि हेतु हैं देते नहीं उत्तर॥
हैं कृष्ण उदासीनताका भाव दिखाते।
राधाकी कर अवहेलना हट दूर हैं जाते॥१४४॥

राधाने सुना, मनमें हुई घोर निराशा।
इस जन्ममें प्रियतम-मिलनकी है नहीं आशा॥
सीमाको पार कर रही राधाकी है व्यथा।
है रो रही, सखियाँ बनी निरुपाय सर्वथा॥१४५॥

राधा है बोलती, "सखी, मैं तो न रुकूँगी।
मरनेसे न रोको मुझे, प्राणोंको मैं दूँगी॥
प्रियतमकी तरह श्याम जो यमुनाका नीर है।
अब तो वही हरे, मेरे उरमें जो पीर है॥१४६॥

"प्रियतमकी है छवि झाँकती सम्मुख तमालसे।
मृत देह मेरी बाँधना इसकी ही डालसे॥
जीवनके हैं उस पार तो मिलना मुझे निश्चय।
प्रियतमके पास जा रही अत्यन्त हो निर्भय" ॥१४७॥

सखियाँ हैं रोकती, कहीं राधा नहीं भागे।
बस, फाड़ लता-जाल कृष्ण दीखते आगे॥
प्रियतम-पदारविन्दमें राधा लुढ़क पड़ी।
आनन्दमग्न देखतीं सखियाँ वहाँ खड़ी॥१४८॥

है धन्य लेखनी अनूप दृश्य देखकर।
झट दृश्य नया सामने दिखला रहे नटवर॥
वह प्रेममें उन्मादिनी राधा है घूमती।
सब लोक-लाज छोड़, बस, प्रियतमको ढूँढ़ती॥१४९॥

घरसे लिये सोनेका घट यमुनाके घाटतक—
कई बार है जा लौटती फिर घाटसे घरतक॥
श्रीकृष्णके दर्शनकी एकमात्र कामना।
है कृष्ण-प्रेम ही बना जीवनकी साधना॥१५०॥

राधा तथा माधवका जो हैं तत्व जानती।
राधाके इस व्यवहारको उत्तम हैं मानती॥
व्रज-नारियाँ कुछ हैं, जिन्हें बातें हैं खटकती।
राधाके इस चरित्रको दूषित हैं समझती॥१५१॥

राधाके अब सतीत्वपर लगती है लाञ्छना।
करता कुटिल समाज भी उसकी है भर्त्सना॥
राधाको तो निन्दाकी है परवाह कुछ नहीं।
सकते हैं क्या सह कृष्ण इस अपमानको कहीं॥१५२॥

युवती है एक और वह वृद्धा है दूसरी।
अपने सतीत्वके विपुल अभिमानसे भरी॥
दोनोंके मानका हैं कृष्ण कर रहे मर्दन।
राधाके उस निर्मल सतीत्वका भी परीक्षण॥१५३॥

प्राङ्गणमें गोशालेके कृष्ण खेल रहे हैं।
सहसा हुए मूर्च्छित गिरे, सब देख रहे हैं॥
हैं दौड़ती आती यशोदा, नन्द भी आते।
वे गोपियाँ सब गोप हैं बेचैन हो जाते॥१५४॥

श्रीकृष्ण-स्वास्थ्य हेतु दक्ष वैद्य चिकित्सक,
उपचार कर रहे सभी तान्त्रिक तथा गणक॥
यह घोर किंतु कृष्णकी मूर्च्छा है आजकी।
उपचार हुए व्यर्थ, सफलता न मिल सकी॥१५५॥

है एक तेजपुञ्ज तरुण वैद्य उपस्थित,
श्रीकृष्ण-सदृश रूप है, करता है प्रभावित॥
पड़ वैद्यके चरणोंमें सिसकियाँ हैं भर रही।
'श्रीकृष्णकी मूर्च्छा हरो'—माता है कह रही॥१५६॥

गम्भीर है वह वैद्य, झट विश्वास दिलाता।
'चिन्ता नहीं, मैं कृष्णको हूँ होशमें लाता'॥
कुछ चिह्न, वह कुछ अङ्क फिर लिखता है भूमिपर।
बतला रहा उपाय वह मातासे है हँसकर॥१५७॥

'मिट्टीकी शीघ्र एक तुम कलसी तो मँगाओ।
गोकुलकी किसी एक सतीको भी बुलाओ॥
जल लायेगी यमुनासे वह निर्दिष्ट रीतिसे।
अभिषेकसे बालक बचेगा मृत्यु-भीतिसे'॥१५८॥

कलसी मिली तब वैद्य स्वर्ण-कील लगाकर,
कलसीमें खोद झट सहस्र छिद्र बनाकर,
लट कृष्णके केशोंकी एक काट हैं लेते।
ले एक-एक केश-तन्तु जोड़ हैं देते॥१५९॥

हैं सब जुटे जाकर वहाँ यमुनाके किनारे।
उस पार गये वैद्य हैं नौकाके सहारे॥
दोनों तरफ़ तमालसे छोरोंको बाँधकर,
है तन्तु-सेतु वैद्यने निर्मित किया सत्वर॥१६०॥

तब वैद्यने कहा, 'है तन्तु-सेतुसे जाना।
यमुनाको तीन बार पार करके है आना॥
यमुनाके नीरसे पुनः कलसीको है भरना।
उस नीरसे बालकको है जीवित मुझे करना॥१६१॥

'यह कार्य सती-साध्य है, उसको हूँ बुलाता।
ऐसी ही सती एकको ला दो यहाँ, माता!'
आह्वानपर कोई नहीं जब सामने आती।
माता विषण्ण अश्रुपूर्ण-नेत्र हो जातीं॥१६२॥

अब हो स्वयं तैयार यशोदा हैं बढ़ रही।
सतियोंमें वह सिरमौर हैं—यह बात है सही॥
पर वैद्य बोले, 'रोगका ऐसा निदान है।
निज कुलकी वह नारी न हो, ऐसा विधान है'॥१६३॥

माताका सुन अनुरोध तब आती सती युवती।
राधाकी जो निन्दा तथा अपमान थी करती॥
इठलाके ज्यों रखती है प्रथम पाँव सेतुपर।
है तन्तु भग्न, डूबने जलमें लगी गिरकर॥१६४॥

हैं लोग बचाते उसे, पहले थी वह गर्वित।
'यह कार्य असम्भव है' अब कहती है हो लज्जित॥
वृद्धा सती राधाका जो अपमान थी करती।
उसका भी यही हाल है, लज्जासे है मरती॥१६५॥

नैराश्यभरे नेत्रसे माता हैं रो रही।
गणनासे वैद्य देखकर हैं बोलते सही--
'वृषभानुजा राधा ही, बस, यह कार्य करेगी।
गोकुलकी सब सतियोंकी वही लाज रखेगी' ॥१६६॥

पुष्पोंकी वह मालाएँ बैठ गूँथ रही है।
प्रियतमको उरमें राधिका रख पूज रही है॥
दूतीसे सुन संवाद है उद्विग्न हो जाती।
श्रीकृष्णके प्राणार्थ झट दौड़ी चली आती ॥१६७॥

मस्तक हुआ नत वैद्यका राधाको देखकर।
'राधाको क्या करना है' तब समझा दिया सादर॥
अभिमानशून्य राधा है वह सेतु देखती।
करके प्रणाम सेतुपर पैरोंको है रखती ॥१६८॥

बढ़ती है सेतुपर लिये उसका ही सहारा।
जय-घोषसे नादित है वह यमुनाका किनारा॥
राधा भी एक बार है पीछेको देखती।
प्रियतमको याद कर पुनः आगेको है बढ़ती ॥१६९॥

वह तीन बार पार कर यमुनाको आ गयी।
कलसीको ले भरने चली राधा दयामयी॥
बायें ही करसे छिद्रमय कलसीको डुबाती।
आश्चर्य! जलसे पूर्ण वह बाहर उसे लाती ॥१७०॥

राधाके हाथसे ही तरुण वैद्य कराते--
अभिषेक कृष्णका, उन्हें जीवित हैं बनाते॥
प्रेमाश्रु भर माता हैं उन्हें अङ्क लगाती।
पुष्पोंकी वृष्टि नभसे सभी ओरसे आती ॥१७१॥

प्रियतमको कर प्रणाम वह राधा है जा रही।
मातासे है सहस्रशः आसीस पा रही॥
सतीत्वकी महिमासे सब अभिभूत हो रहे।
जगमें कभी ऐसा हुआ ? इतिहास तो कहे॥१७२॥

जो नारियाँ राधाकी थीं निन्दा किया करती।
धिक्कारती अपनेको अब लज्जासे हैं मरती॥
राधाके चरणरेणुमें सब लोट-लोटकर।
निजको कृतार्थ कर रही नर-नारियाँ सादर॥१७३॥

होते हैं सामनेसे तरुण वैद्य अलक्षित।
यह लेखनी ललिताके सामने है उपस्थित॥
ललिताने कहा, 'लेखनी, तुमको है दिखाया।
जो जानना थी चाहती, प्रियतमने बताया॥१७४॥

'अब प्रियतम श्रीकृष्णचन्द्रने भाग्य तुम्हारा चमकाया।
अरी लेखनी ! इसी जन्ममें पुनर्जन्म तुमने पाया॥
वृन्दावनके नित्य निकुञ्जोंमें विचरो, मेरी प्यारी !
रखना तुम्हें जहाँ वे चाहें प्रियतम नटवर गिरिधारी'॥१७५॥

वृन्दावनके नित्य रासमें सब सखियोंके साथ सही।
हृदय भरा उल्लास लेखनी थिरक-थिरक कर नाच रही॥
'कर थोड़ा विश्राम पुनः अविराम तुम्हें आगे बढ़ना।
ललिता और मञ्जरीकी है आज्ञामें तुमको रहना'॥१७६॥

मुद्रक - काशी मुद्रणालय, विश्वेश्वरगंज, वाराणसी।